सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवांई-282002 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 45, अंक : 3, जून 2012

अमृत कण

नादत्ते कश्चित् पापं न चैव सुकृतं विभु:।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेक मुह्यन्ते अन्तव:।।

सर्व व्यापक परमात्मा न पाप ग्रहण करता है और न पुण्य। अत: जीवों का कर्मबन्धन केवल अज्ञानमात्र है, जिसके कारण सभी जीव अपने को मोहमाया में फँसा मानते हैं।।

◆ ◆ ◆

अनाचारस्तु मालिन्यमत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचार संयोग: सदाचारस्य लक्षणम्।।

(बोधसागर)

अनाचार से मनुष्य के चित्त में मलिनता होती है और आवश्यकता से अधिक आचार करना मूर्खता (या दम्भ) कहा गया है। अत: विचारपूर्वक जो आचार किया जाता है, वही सदाचार कहलाता है।

◆ ◆ ◆

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:।।

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् 6/23)

जिसकी परमात्मा में उत्तम भक्ति है और परमात्मा के समान ही अपने गुरु में भक्ति है, उस महात्मा को सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं।

◆ ◆ ◆

पापेन जायते व्याधि: पापेन जायते जरा:।
पापेन जायते दैन्यं दु:खं शोको भयंकर:।।

(ब्रह्मखण्ड 16/51)

पाप ही रोग, वृद्धावस्था तथा नाना प्रकार के विघ्नों का बीज है। पाप से ही दैन्य, दु:ख तथा भयंकर शोक की उत्पत्ति होती है।

◆ ◆ ◆

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 45 | जून 2012 | अंक : 3

**यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वविधयो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।।**

जो रुद्र इन्द्रादि देवताओं को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला है तथा जो सबका अधिपति और महान ज्ञानी (सर्वज्ञ) है। जिसने सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ को देखा था, वह परमदेव परमेश्वर हम लोगों को शुभ बुद्धि से संयुक्त करें।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	6
3.	गुरु भक्ति – कु. पूजा पाण्डेय	8
4.	हरियाणे का धन्दा – जगदीश राए बंसल	13
5.	गीतामृत–पदावली	14
6.	योगआसन – उत्कटासन	17
7.	श्री गुरु कृपा – ओम प्रकाश गुप्ता	19
8.	योग मार्ग में हमारी मनोदशा – द्वारका प्रसाद शर्मा	23
9.	महाप्रभुजी का सारा परिवार है – राजीव कुमार	29
10.	योगवसिष्ठ : महायोगनी चुडाला प्रकरण – डॉ. विजय सिंह	30
11.	भक्तियोग – प्रो. अभिराम शर्मा	37
12.	अपनाओ मुझको शरण आ रहा हूँ – द्वारका प्रसाद शर्मा	38
13.	काल चक्र भेदन – किशनचन्द अग्रवाल	39

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 150.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 900.00

• विशेष लेख

सार्वभौम विद्या योग

योग–योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

''योग'' आध्यात्म विद्या है। मानव मात्र इसका अधिकारी है। यह एक दूसरी बात है कि कोई व्यक्ति योग की परिभाषा न समझकर इसको अपने मन में साम्प्रदायिकता का स्थान देता रहे। सांप्रदायिक लोग 'मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार अपने मनोनीत नियमों का संकलन करके अपने सम्प्रदाय को चलाते हैं। उनके सभी नियम सभी को प्रिय नहीं होते। हमारी योग विद्या एक इस प्रकार की विद्या है जिसमें ज्ञान और विज्ञान के स्वरूप को समझाकर मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाया गया है।

भगवान पतंजलि देव ने **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'** कह करके अपने पतंजलि योग दर्शन में योग की परिभाषा बतलाई है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है – चित्त की समस्त वृत्तियों का नितरां रोध अर्थात् सीमा तक पहुँची हुई चित्तवृत्तियों का बिल्कुल ही रुक जाना। चित्तवृत्तियाँ त्रिगुणात्मिका होती हैं। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण – ये तीनों प्रकृति सम्मत गुण हैं। ये तीनों ही गुण योगी के चित्त को मलिन रखा करते हैं। जिस समय चित्त सतोगुण प्रधान रहता है, उस समय रजोगुण और तमोगुण उसके अनुयायी रहा करते हैं। ऐसा सतोगुण प्रधान चित्त आत्मस्वरूप आध्यात्म ऐश्वर्य में प्रेम करने वाला होता है और इसके विपरीत रज और तम प्रधान चित्त अवैराग्य, अनैश्वर्य, अन्धकार एवं आलस्य की ओर बढ़ाने वाला होता है।

योगी अपने चित्त की त्रिगुण प्रवृत्तियों को हटाकर चित्तवृत्तियों का निरोध करता है एवं अपने आप को केवली भाव की ओर ले जाता है। कैवल्य लाभ करना ही योगियों का परम लक्ष्य है। यह लक्ष्य भूमण्डल पर जन्म लेने वाले हर मानव का हो सकता है। इसका किसी के मजहब या सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। आवश्यकता तो इस बात की है कि साधक मननशील मनुष्य हो। यह विचारने की आवश्यकता नहीं कि उसका जन्म कहाँ हुआ है? वह किन मन्तव्यों को मानने वाला है? भले ही वह यहूदी हो, फारसी हो, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हो। मननशील मानव योग का अधिकारी है। यदि उसके मन में योग की सच्ची जिज्ञासा पैदा हो गयी है तो वह योगोपदेष्टा योग्य सच्चे आचार्य गुरु की शरण लेकर इस विद्या में प्रवेश ले सकता है तथा प्रवेश कर लेने के बाद दृढ़तर अभ्यास में लगे रहने वाला व्यक्ति योग की पराकाष्ठा को अवश्य ही पा जाता है। अखिलात्मा योग–योगेश्वर श्री कृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में छठे अध्याय में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार बतलाया है :–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः।।

अर्थात्– युक्त योगी कहलाता ही वह है जो ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा होकर विकास रहित स्थिति को पहुँच गया हो। जिसकी दृष्टि में लोहा, सोना, मिट्टी, पत्थर समान रूप से ही दिखाई देते हों, किन्तु यह स्थिति प्राप्त उसी को हो सकती है जिसने योग का क्रमश: अध्ययन किया हो। योग की वर्णाक्षरी, मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है, मन सब शक्तियों का भण्डार है।

इन्द्रियाँ उसको अपने–अपने विभिन्न विषयों में प्रतिक्षण प्रेरित करती रहती हैं। अतः वह इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्धादि में भटकता रहता है। योगी का सबसे पहला लक्ष्य है कि रूप, रस गन्धादि में भटकने वाले अपने मन को प्रत्याहार के द्वारा लौटा–लौटाकर धारणा के द्वारा एकाग्र करे। किसी एक लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना ही धारणा कहलाती है। यह योगी की पहली वर्णाक्षरी है, जिसका अध्ययन करने वाला साधक धारणा–ध्यान समाधि का अध्ययन करता हुआ संयम तक पहुँच जाता है एवं संयमित चित्त वाला योगी ही ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा हो सकता है। ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा के अर्थ को हर व्यक्ति संभवतः नहीं समझता होगा। अतः थोड़ा सा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझकर उस पर पूर्णाधिकार प्राप्त करना। जैसे जल में न डूबना, अग्नि से न जलाया जाना, पाताल प्रवेश करना, आकाश गमन करना। ये सब कार्य प्रकृति के नियमों को समझकर उस पर विजय प्राप्त कर लेने वाली बात है। जो साधक अपनी साधना के बल से प्रकृति के इस प्रकार के सभी नियमों को समझकर उस पर अधिकार प्राप्त कर लेता है वह ज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने संयम को उत्कृष्ट बनाकर आत्म साक्षात्कार कर लेता है एवं प्रातिभ, श्रवण, वेदना, आदर्श आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है वह विज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। ज्यों–ज्यों साधक आत्म–साक्षात्कार के निकट पहुँचता है, त्यों–त्यों उसके मन में अपने आप ही प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाया करता है। जिस प्रकार प्रातःकालीन ऊषा में हर व्यक्ति को धुंधले–धुंधले प्रकाश में सब मकान आदि दिखलाई ने लगते हैं, उसी प्रकार योगी की बुद्धि में सभी सूक्ष्म–भाव शुद्ध सत्य के रूप में आभासित होने लग जाते हैं। यही उसका प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान के साथ–साथ दूर–दूर की बातें सुनना, दूर–दूर की वस्तुओं को स्पर्श करना आदि–आदि शक्तियाँ भी योगी के अन्दर स्वाभाविक रूप से उदित हो जाती हैं। इन सब शक्तियों के उदय हो जाने के बाद योगी का मन अपने आप ही आत्मलीन रहने लगता है। वह कूटस्थ हो जाता है। उसकी बुद्धिवृत्ति आत्माकार बनी रहने लगती है। अतः किसी भी विकार का उसके मन में उदय नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में स्थित रहने वाले योगी की दृष्टि में लोहा, सोना, पत्थर सब समभाव से रहने लगते हैं। वह वासना, तृष्णा के जाल से बिलकुल ही दूर हो जाता है। प्राणीमात्र को अपनी आत्मा समझता है एवं अपने आपको भी प्राणिमात्र के अन्दर आत्मवेग देता है, यही उसकी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई योग स्थिति है।

उसकी दृष्टि में वर्णभेद और जातिभेद सब मिट जाते हैं।

अतः योग-विद्या ही एक ऐसी विद्या है जिसको सार्वभौम विद्या कहा जा सकता है क्योंकि पृथ्वी पर जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपने अधिकार भेद से इसके अधिकारी हैं। हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अधिकार-भेद को अवश्य माना है। अधिकार भेद का अर्थ किसी जाति-पाति से सम्बन्ध नहीं रखता, प्रत्युत योग्यता से सम्बन्ध रखता है। जैसे पहली कक्षा में पढ़ने वाला विद्यार्थी उसे उत्तीर्ण करके ही दूसरी कक्षा का अधिकारी बनता है न कि एम.ए., आचार्य आदि का। हाँ! शनैः शनैः पढ़ता हुआ पहली, दूसरी, तीसरी आदि कक्षाओं को क्रमशः उत्तीर्ण करता हुआ अन्त में वह एम.ए. व आचार्य पद तक पहुँच ही जायेगा और कुछ समय के बाद क्रमशः अध्ययन करता हुआ वह उच्चकोटि का विद्वान कहलाने लगेगा। इसी प्रकार से योग-विद्या का विद्यार्थी भी शनैः शनैः क्रमशः अध्ययन करता हुआ अपने परम लक्ष्य तक अवश्य ही पहुँच जायेगा, किन्तु यह देखना आवश्यक होगा कि कौन व्यक्ति किस भूमिका का है। हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग एवं लययोग किस रास्ते पर चलने से किसका जल्दी से अधिक उत्थान हो सकता है, इस बात को उसके शिक्षक ही समझेंगे और वे अपने छात्र को जिस मार्ग से चलाना चाहेंगे चलायेंगे एवं उसको बढ़ायेंगे।

● ● ●

आत्मतत्व

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलाऽनुशिष्टः।।

आत्मतत्व बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता और जिसको बहुत से लोग सुनकर भी समझ नहीं पाते, ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्व का वर्णन करने वाला महापुरुष आश्चर्यमय है। उसे प्राप्त करने वालों में भी कोई विरला ही बुद्धिमान साधक ऐसा होता है जिसने आत्मतत्व को पाकर अपना जीवन सफल बना लिया हो। तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों से उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मननिदिध्यासन करते-करते तत्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष तो जगत में अत्यन्त दुर्लभ हैं।

* सम्पादकीय

योग मार्ग और इसका अधिकारी

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

योग–मार्ग का अधिकारी – योग सार्वभौम विद्या है। मनुष्य मात्र इसका अधिकारी है। इसे अध्यात्म विद्या भी कहते हैं। किसी भी विद्या का अधिकारी बनने से पूर्व कुछ योग्यतायें, अर्हता की आवश्यकता होती है। वेदान्त शास्त्र में शम, दम आदि षट सम्पत्तियों से युक्त साधक को ही इस विद्या का अधिकारी माना है। योग–मार्ग में प्रवेश पाने के लिए मनुष्य में कुछ योग्यतायें या गुण आवश्यक हैं। इसलिए सर्वप्रथम यम–नियम का विचार किया जाता है। साधक सत्यवादी हो, मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य निष्ठ हो यह योग साधक के लिए प्रथम सीढ़ी है। वह हिंसा व क्रूर वृत्तिका न हो, अहिंसक हो। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला, संयम–नियम से रहने वाला व सदाचारी हो। सदाचरण हीन व्यक्ति को वेद भगवान भी पवित्र नहीं कर सकते। मन में भी चौर्य भाव न रखनेवाला हो अर्थात् अस्तेय वृत्ति में रहने वाला हो। आवश्यकता से अधिक सांसारिक वस्तुओं का संग्रह करने वाला न हो। इस प्रकार से यमों का पूर्णरूपेण पालन करने वाला हो, तभी साधक आगे बढ़ सकता है। इसके साथ ही शरीर व मन की शुद्धि रूप नियम का पालन आवश्यक माना गया है। संतोष वृत्ति का होना भी साधक में अत्यावश्यक है। संतोष साधक का परम धन है। इससे अखण्ड सुख मिलता है। जो सांसारिक वस्तुओं में संतोष नहीं रखता है। अर्थात् शरीर निर्वाह के लिए समुचित आवश्यक साधन प्राप्त रहने पर भी जो असन्तुष्ट रहता है वह योग मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। मनुष्य की कामनाऐं अनन्त हैं ये सब नश्वर वस्तुओं के लिये होती हैं अतः साधक के लिए हेय हैं। आत्मलाभ की ही कामना शुद्ध कामना है अन्य सभी कामनायें व्यर्थ होती हैं। साधक को आत्मलाभ में बाधक तमो, रजोगुण वृत्तियों का शमन तप से करना चाहिए। सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास आदि द्वन्दों को सहना करना तप कहा गया है। बिना तप के पूर्व संचित पापों का नाश नहीं हो पाता है। इसलिए योग शास्त्रों में तप का महत्व अत्यधिक माना गया है।

साधक गुरु प्रदत्त मन्त्र का निरन्तर जाप करें तथा साथ ही समयानुसार गीता एवं अध्यात्म ग्रन्थों का मनन–चिन्तन करता ही रहे। इससे साधक के जीवन में अन्तराय या विघ्न नहीं आते हैं। स्वाध्याय की अध्यात्म–मार्ग में बहुत महिमा गाई गई है। गुरुदेव और शास्त्र में पूर्ण विश्वास साधक को होना चाहिए। अविश्वासी तथा संशयात्मा अध्यात्म मार्ग से च्युत हो जाया करता है। ईश्वर तथा गुरुदेव में पूर्ण विश्वास ही साधक को भव व्याधि से पार करने वाला है। गीता में भगवान कृष्ण चन्द्र जी ने साधकों को अपने अन्दर ऐसे दिव्य गुणों को धारण्पा करने

की आज्ञा दी है जिससे वे योग–विद्या के अधिकारी बन सकें। साधक को सदा निर्भय रहना चाहिए। अन्तःकरण को निर्मल करने के लिए ध्यानयोग का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। दान की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण रखना चाहिए। शास्त्रोक्त विभिन्न प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए। स्वाध्याय और ध्यान योग सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है। नाशवान भोग–वासनों से दूर रहे। ब्रह्मचर्य एवं प्राणायाम रूपी तप को करने से आत्म प्रकाश में बाधा रूप आवरण का नाश होता है। हिंसा वृत्ति का सर्वथा त्याग करें। सत्य व्रत का पालन करें। चित्त में शान्ति धारण करें। निन्दा–चुगली में न फसें। सभी प्राणियों के प्रति दया भाव रखें। इन्द्रिय लोलुप न हो। मृदु स्वभाव रखे। आत्मतेज को धारण करें। क्षमाशील रहे। किसी से द्रोह न करे तथा अपने को अभिमान से सर्वथा दूर रखे। यदि साधक अपने अन्दर इन दिव्य गुणों को प्रकट कर लेता है तो वह योग–विद्या का उत्तम अधिकारी बन जाता है और योग में स्वतः प्रवेश मिल जाता है। ये दैवी सम्पदा के नाम से जाने जाते हैं।

योग साधक इस प्रका विचार करें –

मैं अनन्त युगों से भिन्न–भिन्न योनियों में भटक रहा हूँ। संसार रूपी अंगार में तप रहा हूँ। मुझे किसी भी योनि में शान्ति नहीं मिली। अब की बार मानव जीवन मुझे मिल गया है। गर्भावस्था में मैंने कई प्रकार की प्रतिज्ञायें की है – हे प्रभु! अब की बार यदि इस गर्भरूपी नरक से निकल जाऊँ तो मैं आपकी आराधना करूँगा। मैं योग के अंगों का अभ्यास करूंगा तथा ध्यान–योग मे आरूढ़ हो जाऊँगा। इस प्रकार से योग–साधक को बार–बार संसार की नश्वरता का विचार निरन्तर करते रहना चाहिए। तथा अपनी कृत प्रतिज्ञाओं का स्मरण करना चाहिए।

समय के परिवर्तन से वर्तमान समय में योग संस्थानों में भी अनाधिकारी लोगों का प्रवेश होने लगा है। शिक्षा–दीक्षा से विहीन ऐसे लोग संस्थाओं के पुरातन मर्यादाओं, परम्परा को छिन्न करते देखे जा सकते हैं। साधु रूप बनाकर धीरे–धीरे परिवार बसा लेते हैं जिससे संस्था की शुचिता नष्ट होती है और नाना उपद्रव शुरू हो जाते हैं। यह एक चिन्तनीय विषय है। सामान्य व्यक्ति साधुओं को एक जैसा मानकर निन्दा करने लग जाते हैं। किन्तु विवेकी जन सच्चे साधु की परख कर लेते हैं। अस्तु!

योग–मार्ग ही मनुष्य के कल्याण का परम साधन है। इस मार्ग में सफलता के लिए सद्गुरु की आवश्यकता होती है। जो गुरु–विहीन है वह कदापि इस मार्ग पर बढ़ नहीं सकता। अतः सद्गुरु शरणापन्न होकर इस अमर विद्या को सीखना चाहिए।

● ● ●

गुरु - भक्ति

– कु. पूजा पाण्डेय, गायत्री नगर नातू फार्म, शुक्लागंज (उन्नाव)

यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र का अर्थ है, 'जिसकी भगवान के चरणों में पराभक्ति है और उतनी ही भक्ति गुरु के प्रति है, केवल उसके भीतर वेदान्त के सत्य और उपनिषदों का ज्ञान प्रकट होता है।' अन्यथा उपनिषदों का अध्ययन उपन्यास पढ़ने के समान है। आपके इष्ट देवता जो भी हों – राम, कृष्ण, बुद्ध, जीसस या अल्लाह – आपके भीतर उनके प्रति पराभक्ति होनी चाहिए और वैसी ही भक्ति अपने गुरु के प्रति होनी चाहिए। तभी वेदान्त, भागवत, सुखमणि के सत्य आपके समक्ष उद्घाटित होंगे, और आप भगवान से अपना सम्बन्ध जोड़ पायेंगे। इस भक्ति के बिना कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता।

गुरु वे होते हैं जो पूर्ण आत्मज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं और मोहग्रस्त जीवों के अज्ञान के अन्धकार को दूर कर सकते हैं। गुरु, सत्य, ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, ॐ – सब एक ही है। जब तक संसार का अस्तित्व है तब तक आत्म–साक्षात्कार के मार्ग में संघर्षरत आत्माओं के मार्गदर्शन के लिए गुरुओं और वेदों का अस्तित्व भी रहेगा। इस युग में आत्मज्ञानियों की संख्या सतयुग की तुलना में भले ही कम हो, किन्तु वे साधकों की मदद के लिए हमेशा विद्यमान रहते हैं।

गुरु स्वयं ब्रह्म हैं। गुरु ईश्वर हैं। उनके वचन भगवद् – वचन हैं। उन्हें कोई शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं है। उनकी उपस्थिति या सानिध्य मात्र ऊँचा उठाने, प्रेरित करने और भावोद्दीपन के लिए पर्याप्त है। उनका सानिध्य ही आत्म–प्रकाशक है। उनके सानिध्य में रहना ही आध्यात्मिक शिक्षा है। वे प्रेम और करुणा के अवतार हैं।

उनकी स्नेहशील मुस्कान प्रकाश, आनन्द, प्रसन्नता, ज्ञान और शान्ति का प्रकाश करती है। वे पीड़ित मानवता के लिए वरदान स्वरूप हैं। वे जो कहते हैं वही उपनिषदों की शिक्षा है। वे अध्यात्म–मार्ग को जानते हैं। वे राह में आने वाली विपत्तियों और मायाजालों से अवगत हैं। वे समय पर शिष्यों को चेतावनी देते हैं। वे उनके ऊपर कृपा की योग वर्षा करते हैं। उनकी उपस्थिति मात्र से सभी व्यथाएँ, विपत्तियाँ, कष्ट, सांसारिक दोष आदि समाप्त हो जाते हैं। वे ही तुच्छ जीवात्मा का रूपान्तरण कर उसे महान ब्रह्म का स्वरूप प्रदान करते हैं। वे ही साधक के पुराने, गलत, बुरे संस्कारों को दूर करते हैं; अविद्या के आवरण, सभी संशयों, मोह, भय आदि को दूर करते हैं; वे ही हमारी कुण्डलिनी को जाग्रत करते और अंतर्ज्ञान के नेत्र खोलते हैं। गीता में कहा गया है कि –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।

तत्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से भली प्रकार दण्डवत प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जानो। वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

गुरु को न केवल ब्रह्म–श्रोत्रिय, बल्कि ब्रह्म–निष्ठ भी होना चाहिए। केवल पुस्तक पढ़ने से कोई गुरु नही बन सकता है। जिसने वेदों का अध्ययन किया है और जिसे अनुभव – जन प्रत्यक्ष आत्मज्ञान हो वही गुरु बनने योग्य है। यदि किसी महात्मा की उपस्थिति में आपको शान्ति मिलती है और आपके संशय दूर हो जाते हैं, तो आप उन्हें अपना गुरु बना सकते हैं।

जैसे नदी में जल प्रवाहित होता रहता है, वैसे ही उनसे ज्ञान और भक्ति की गंगा सदा प्रवाहित होती रहती है। एक पिपासु साधक, जिसकी गुरु में अनन्य श्रद्धा है और जो उनकी शिक्षाओं को आत्मसात करने के लिए अति उत्सुक है, वही उनसे अमृत पान कर सकता है। गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा की गहराई और स्तर के अनुपात में ही शिष्य उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर पाता है।

गुरु शिष्य की अनेक प्रकार से परीक्षाएँ लेते हैं। कुछ शिष्य उन्हें गलत समझते और उनके प्रति अपनी श्रद्धा खो बैठते हैं। इसलिए उन्हें लाभ नहीं होता। प्राचीनकाल में ये परीक्षाएँ बहुत कठिन हुआ करती थी। एक बार गोरखनाथ ने अपने कुछ शिष्यों से एक ऊँचे पेड़ पर चढ़कर खुद को सिर के बल एक तीक्ष्ण धार वाले त्रिशूल पर गिरा देने को कहा। बहुत से श्रद्धाहीन शिष्य चुप रहे। परंतु एक श्रद्धावान शिष्य बिजली की गति से पेड़ पर चढ़ा और झटके से अपने आप को नीचे गिरा दिया। गोरखनाथ के अदृश्य हाथों ने उसे थाम लिया। उसे तत्क्षण आत्म–साक्षात्कार हुआ। एक बार गुरु गोविन्द सिंह ने अपने शिष्यों की परीक्षा ली। उन्होंने कहा, 'मेरे प्रिय शिष्यों! अगर तुम लोगों में मेरे प्रति सच्ची भक्ति है तो छः लोग सामने आकर मुझे अपना सिर दो, तब हमारे प्रयास में सफलता मिलेगी। दो श्रद्धावान शिष्यों ने अपना सिर आगे बढ़ाया, गुरु गोविन्द सिंह उन्हें कुटिया के अन्दर ले गये और उनके बदले दो बकरों के सिर काट दिए। एक बार श्री शंकराचार्य ने अपने शिष्य पद्मपाद की भक्ति की परीक्षा ली। कावेरी नदी में बाढ़ थी, शंकराचार्य नदी के एक किनारे पर खड़े थे, पद्मपाद दूसरे किनारे पर। शंकराचार्य ने पद्मपाद को तुरन्त अपने पास आने का संकेत दिया। वहाँ पर कोई नाव भी नहीं थी। पद्मपाद अपने जीवन की परवाह न कर तुरंत नदी में कूद गये, वे तैरना नहीं जानते थे। शंकराचार्य की कृपा से उनके हर एक कदम पर एक कमल का फूल प्रकट होता गया। इसी से उनका नाम पद्मपाद हुआ। यही सच्ची भक्ति है।

गुरु की आवश्यकता के विषय पर बहुत से लोगों में अच्छा–खासा वाद–विवाद एवं तर्क–वितर्क होता है। कुछ लोग बड़ी उग्रता से तथा जोर देकर इस बात का दावा करते हैं कि

आत्म–साक्षात्कार एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं है, व्यक्ति अपने ही प्रयास द्वारा आध्यात्मिक उन्नति एवं आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। अब आप आँख खोलकर इस विश्व में अपने चारों ओर हर क्षेत्र में होने वाले क्रियाकलापों को देखिए। रसोइये तक को एक शिक्षक की आवश्यकता होती है। वह एक वरिष्ठ रसोइये के अधीन कुछ वर्ष सेवा करता है। वह बिना तर्क–वितर्क किये उसकी आज्ञा का पालन करता है और इस तरह वह पाक कला सीखता है। उसे यह ज्ञान अपने शिक्षक, वरिष्ठ रसोइये की कृपा से प्राप्त होता है। गणित एवं औषधि विज्ञान के विद्यार्थियों को एक विद्वान प्राध्यापक की मदद एवं मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है।

यह बात विश्व मान्य है कि स्थूल जगत के सभी प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए एक सक्षम शिक्षक का होना अनिवार्य है तथा शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी एक योग्य शिक्षक या गुरु के मार्गदर्शन में ही संभव है। यह प्रकृति का एक अपरिवर्तनीय ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त है।

अध्यात्म–विद्या गुरु परम्परा का विषय रहा है। यह शिष्य को गुरु द्वारा प्रदत्त किया जाता है। गुरु गौड़पादाचार्य ने शिष्य गोविन्दाचार्य को आत्मज्ञान प्रदान किया, गोविन्दाचार्य ने अपने शिष्य शंकराचार्य को एवं शंकराचार्य ने अपने शिष्य सुरेश्वराचार्य को। मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शिष्य गोरखनाथ को ज्ञान दिया, गोरखनाथ ने निवृत्तिनाथ को एवं निवृत्तिनाथ ने ज्ञानदेव को। तोतापुरी ने श्री रामकृष्ण को आत्म–ज्ञान प्रदान किया और रामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द को। अष्टावक्र ने राजा जनक के जीवन को परिवर्तित किया। गोरखनाथ ने राजा भर्तृहरि के जीवन को दिशा दी। जब अर्जुन व उद्धव के मन में अस्थिरता थी, तब भगवान श्री कृष्ण ने उन्हें आध्यात्मिक मार्ग में स्थापित किया था।

कुछ साधक स्वतन्त्र रूप से कुछ वर्षों तक ध्यान करते हैं। बाद में उन्हें कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वे आगे बढ़ना एवं विघ्नों को दूर करना नहीं जानते, तब वे गुरु की खोज करते हैं। गुरु–शिष्य को एक पिता एवं उसके पूर्ण समर्पित एवं तत्पर पुत्र की तरह ही रहना चाहिए। गुरु के ज्ञान को आत्मसात् करने के लिए साधक में जिज्ञासापूर्ण ग्रहण करने की मनोवृत्ति होनी चाहिए। तभी साधक आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करेगा। आप सब यह जानते हैं कि एकलव्य नामक शिकारी अपने गुरु द्रोणाचार्य के प्रति कितना समर्पित था और इसी कारण वह धनुर्विद्या में निपुण हो पाया। वह गुरु प्रतिमा की ही सेवा एवं आराधना किया करता था।

गुरु के चुम्बकीय स्पर्श और मार्गदर्शन के बिना एक मोहग्रस्त व्यक्ति के मोक्ष की कोई आशा नहीं है। गुरु ही व्यक्ति के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन लाता है एवं उसे ब्रह्म चेतना, आत्मज्योति, दिव्य कीर्ति एवं आत्म–वैभव से युक्त अलौकिक एवं अनुभवातीत सनातन आत्मा में स्थित करता है।

हर एक व्यक्ति को अपने जीवन में गुरु की आवश्यकता पड़ती है। आप कह सकते हैं

कि 'भगवान मेरे गुरु हैं, या मैं स्वयं अपना गुरु हूँ।' शुरू में एक साधक को अपने पथ पर बहुत सारी कठिनाइयों एवं दुविधाओं का सामना करना पड़ता है। उसे ऐसे व्यक्ति से सम्पर्क रखना चाहिए, जो उसकी शंकाओं का समाधान कर सके। गुरु का चुनाव सावधानीपर्वूक करना चाहिए। ऐसा नहीं कि किसी को बहुत बड़ा महात्मा जानकर तुरंत उनको गुरु मान लिया। अचानक ही किसी को गुरु नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि एक गुरु का चुनाव करने के बाद उन्हें बदलना नहीं चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि संत, महात्माओं के सम्पर्क में रहें, सत्संग करें एवं उसके उपरान्त किन्हीं एक को गुरु मानें। ऐसा होने के बाद एक और बाधा से सतर्क रहना होगा – एक महात्मा कहेंगे राम भक्ति सर्वोच्च है, तो दूसरे कहेंगे कृष्ण भक्ति ही सर्वोच्च है, वे राम भक्ति की आलोचना करेंगे; अगर आप कोलकाता जाएंगे, तो वहाँ महात्मा बोलेंगे कि काली ही भक्ति करने योग्य है और कोई दूसरे निराकर ध्यान को सर्वश्रेष्ठ बतायेंगे।

आप कभी भी अपनी निष्ठा, आदर्श एवं मूल सिद्धान्त को न बदलें। अपने मूल सिद्धान्तों का पता लगाइये, जो आपके स्वभाव आदि पर निर्भर करता है और जब आप किसी महात्मा से मिलें, तो उनसे इन्हीं मूल सिद्धान्तों पर निर्देश देने का अनुरोध करें। अगर वे कोई प्रतिकूल विचार रखते हैं, तो ध्यान से सुनना चाहिए। परंतु अपने केन्द्रीय, मूल–सिद्धान्त एवं निष्ठा पर दृढ़ रहना चाहिए।

इन सभी विचारों के साथ हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिक मार्ग के हर साधक के लिए गुरु अनिवार्य है। हमें अक्षर ज्ञान या गणित सीखने के लिए भी एक गुरु की आवश्यकता होती है, तो फिर ब्रह्म–ज्ञान का कहना ही क्या? अपने अहंकार के कारण हम अपने दोषों को नहीं जान पाते, सिर्फ गुरु ही जान पाते हैं। आप कहेंगे, 'मैं दूसरे व्यक्ति से बेहतर जानता हूँ।' अगर आपके अवगुण सामने लाए गये तो आप झगड़ पड़ेंगे। आप अपनी त्रुटियों को दूसरों के सामने नहीं लाना चाहते हैं। अपनी त्रुटियों को स्वीकार करें, तभी आपकी प्रगति होगी।

अध्यात्म का मार्ग काँटों से भरा है। पर इससे निराश होने की बात नहीं है। प्रभु दयालु हैं। अगर आप उनमें लीन होना चाहते हैं तो आपको भी दयावान होना होगा। ईश्वर साक्षात्कार क्या है? अपने को भगवान में लीन कर देना, उनसे सायुज्य होना ही ईश्वर–साक्षात्कार है। सभी शास्त्रों, सांख्य या योग का एक ही लक्ष्य है, आपको पूर्ण और स्वतन्त्र बनाना, आत्मा का परमात्मा से योग कराना, आपको भगवद् ज्ञान कराकर परमानन्द और शान्ति प्रदान करना। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

अगर आपको कुछ हासिल या अनुभव नहीं हो रहा है तो धीरज रखें, हो सकता है, अभी

आपमें कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों। अभी आपको और साधना करनी है। भाव के साथ स्वार्थरहित सेवा करें। थोड़ी–सी साधना के उपरान्त तुरन्त फल की इच्छा न करें। किसी को पंखा करते समय सोचिए, "मैं मनुष्य शरीर को नहीं परंतु अपने प्रभु को पंखा कर रहा हूँ। आप कोई भी काम करें, अपने प्रभु, अपने गुरु या अपने इष्टदेव को ध्यान में रखकर करें, इससे प्रभु के प्रति आपकी भक्ति और श्रद्धा और भी बढ़ेगी। इससे आपके अन्दर दया, परोपकार, सम्मान और सद्भावना का विकास होगा, जो आपको अपने प्रभु, गुरु या इष्टदेव से जुड़े रहने में मदद करेगा और उनकी कृपा भी आपके ऊपर निरन्तर होती रहेगी।

अध्यात्म एक सागर है। संतों की जीवनी पढ़ेंगे तो साफ समझ में आयेगा कि चैतन्य, तुकाराम, तुलसीदास आदि जैसे महान संतों ने भी अपने आप को शिष्य ही माना।

एक बार इंग्लैण्ड में गाँधीजी एक स्थान पर व्याख्यान देने गये। उन्होंने बहुत साधारण कपड़े पहने थे। लोगों ने उनको देखकर सब्जी काटने एवं पानी भरने को कहा। उन्होंने उत्साहपूर्वक यह सब काम किया। वे लोग नहीं जानते थे कि यह व्यक्ति गाँधी जी हैं। विद्यासागर कुली बनकर एक व्यक्ति का सामान रेलवे स्टेशन से बाहर लाए, जो उन्हीं का व्याख्यान सुनने वहाँ आया था। महान लोग हमेशा विनम्र होते हैं एवं स्वयं को किसी भी सेवा में लगा देते हैं।

भगवान श्री कृष्ण ने अपने गुरु 'संदीपनी' के लिए सिर पर लकड़ी के गट्ठर ढोये थे।

सभी लोगों को गुरु अवश्य बनाना चाहिए। अगर उच्च कोटि के गुरु नहीं मिलते हैं, तो निम्नकोटि के ही गुरु बनाएँ, जो आप से बेहतर हो एवं जिनको दस–बीस साल का अनुभव हो। अगर अति निम्न गुरु भी मिले तो भी उनके आदेश का पालन करें, क्योंकि वे ही आपके संशय को दूर करेंगे। ये तो अपनी–अपनी बुद्धि पर निर्भर करता है और ये सोचने लगते है कि कौन से गुरु उच्चकोटि के हैं, और कौन से गुरु निम्नकोटि के हैं, लेकिन सही मायने में देखा जाए तो गुरु – 'गुरु होते हैं' उनके आगे उच्च या निम्नकोटि की मात्रा नहीं लगानी चाहिए, यह गलत बात है आपको जो लगता है कि यह संत या महात्मा मेरे संशय को दूर कर सकता है, मेरे समस्याओं का समाधान इनसे हो सकता है, तो उन्हें आप सच्चे मन और भाव से गुरु बना सकते हैं और अन्त में आपको मोक्ष की प्राप्ति मिलेगी। लेकिन हम ऐसा नहीं कर पाते; अपनी कुबुद्धि के कारण उनसे व्यर्थ ही तर्क–वितर्क करने लगते हैं – जैसे कि क्या आप मुझे मुक्ति या समाधि दे सकते हैं? या मैं आपको अपना गुरु क्यूँ मानू? या आपके अन्दर कितनी शक्तियाँ हैं? ये सब व्यर्थ के तर्क–वितर्क करने से हम जीवन में और अध्यात्म मार्ग पर चलने से पहले ही विफल हो जाते हैं और हमें उनसे कोई भी लाभ नहीं होता। हम अपने हाथों से ही अपने ज्ञान के दरवाजे बन्द कर लेते हैं।

जन–साधारण के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। कर्मयोग के मार्ग को अपनाने के लिए, दूसरों की सेवा के लिए एवं इस दृश्य जगत को प्रभुमय देखने के लिए कर्मयोग की प्रक्रिया को समझना होगा। यह विश्व प्रभु की ही रचना है और हम सभी भगवान के निमित्त मात्र हैं तथा

हमें कर्म के फल की आशा नही करनी चाहिए केवल कर्म करना चाहिए और सतकर्म करने की प्रेरणा हमें गुरु से ही मिलती है और गुरु–भक्ति से ही हम सतकर्म, अच्छे कर्म करते है। अतः 'गुरु' सबके जीवन के लिए आवश्यक है।

गुरु की सेवा भावपूर्वक करने से हम विकास करेंगे तथा अपनी शंकाओं का समाधान पाकर आसानी से आत्मसाक्षात्कार करेंगे।

●●●

हरियाणें का चन्दा

– जगदीश राए बंसल 'अधम'

मन्त्र : युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्व प्राव बोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।

टेक : दो बार भोजन, और, भजन बार बार।
इसी लिए टल जाते हैं, विघ्न हजार ।।

खाना पीना और सो जाना, यह तो जरूरी है
ताजा चिकना सादा, यह – शरीर की दस्तुरी है
संयम से चेहरा – मुस्कावे बारम्बार
इसी लिए ... (1)

श्री चरणों की वन्दगी – कभी कभी उपवास
जिन्दगी को राह मिले – प्रेम ज्योति की आस
सिद्धयोग की राहों में – स्नान की दरकार
इसी लिए .... (2)

बगीया सूख जाती है तो – बुल बुल उड़ जाती है
अपने छोड़ जाते हैं – जब बीमारी लग जाती है
खाना पीना शुद्ध है तो – आती है बहार
इसी लिए ... (3)

हरियाणे का चन्दा – गुरु चन्द मोहन अवतार
नारद जी की बीणा गाती – चमके भाग्य हमार
''अधम'' बार-बार खाने से – नाराज हैं सरकार
इसी लिए ... (4)

●●●

गीतामृत पद्यावली

(गतांक से आगे)

आदि–पितामह ब्रह्मा हो तुम, अनल, वरुण, विधु, मारुत, यम।
पुनः–पुनः भी बार हजारों नमस्कार हैं करते हम।। 39।।

आगे–पीछे सभी ओर से करता हूँ मैं तुम्हें प्रणाम।
अमित–वीर्य, विक्रम, जगव्यापी, सर्वरूपमय है तव नाम।। 40।।

हे माधव, हे कृष्ण, सखा हे! तुमको कहा मित्र यदि जान।
कहा प्रेम से या भ्रम से भी, रहा न तव महिमा का ज्ञान।। 41।।

निर्जन में या जन–समूह में, या करते आहार–विहार।
जो भी हुआ निरादर मुझसे, क्षमा करो हे जगआधार।। 42।।

अखिल विश्व के पिता तुम्हीं हो, तुम्हीं पूज्य, गुरु से गुरु भी।
तुम–सा नहीं विश्व में कोई, बढ़कर सम्भव नहीं कभी।। 43।।

अब प्रसन्न हो प्रभु! गिरता हूँ मैं तव चरणों में, जगदीश।
पिता, मित्र, प्रेमी के जैसा क्षमा करो मुझको, हे ईश।। 44।।

देख तुम्हारा रूप अपरिचित, हर्ष तथा होता है भय।
कृपा करो, दर्शन दो फिर से जिसका है मुझको परिचय।। 45।।

पुनः देखने की इच्छा है गदा–किरीट–चक्र–युत रूप।
विश्वरूप, हे सहस्त्रबाहो! धरो चतुर्भुज वही स्वरूप।। 46।।

* * *

श्री भगवानुवाच
मैंने कृपया आत्मयोग से दिखलाया यह रूप अपूर्व।
शान्त-रहित इस आद्य-रूप को नहीं किसी ने देखा पूर्व।। 47।।

पद, यज्ञ से, दान, पठन से, तप से उग्र, क्रिया से भी।
मेरे सिवा जगत् में कोई देख न सकता इसे कभी।। 48।।

देख भयंकर रूप, न पीड़ित हो, मत कर तू मोह कभी।
निर्भय होकर प्रेम-सहित फिर रूप चतुर्भुज देख अभी।। 49।।

संजय उवाच
वासुदेव ने ऐसा कहकर पुनः रूप निज प्रकट किया।
शान्त रूप फिर धारण करके, अर्जुन का भय दूर किया।। 50।।

अर्जुन उवाच
रूप मानवी देख तुम्हारा, शान्ति कृष्ण! मैंने पाई।
चित्त हुआ अब स्थिर मेरा, मुझे चेतना फिर आई।। 51।।

श्री भगवानुवाच
अति दुर्लभ है दर्शन उसका, तुमने देखा जिसे अभी।
इसे देखने की इच्छा है, मन में देवगणों के भी।। 52।।

दान, तपस्या, वेद-पठन से, तथा यज्ञ करने से भी।
कोई अन्य पुरुष तो अर्जुन देख न सकता मुझे कभी।। 53।।

अटल, अनन्य भक्ति के द्वारा दर्शनीय यह मेरा वेश।
संभव तब ही मुझे जानना, मुझमें करना तथा प्रवेश।। 54।।

अनासक्त हो, धर्मशील बन, मुझमें जो रहता अनुरक्त।
वैर न रखता तनिक किसी से, मिल जाता मुझमें वह भक्त।। 55।।

('श्रीगीतामृत–पदावली' का विश्वरूप–दर्शन–योग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण)

अध्याय – 12

अर्जुन उवाच

सगुण–उपासक भक्त तुम्हारे, जो करते हैं पूजन–ध्यान।
अथवा निर्गुण को जो भजते–इनमें योगी कौन महान्।। 1।।

श्रीभगवानुवाच

सदाचित्त जो मुझमें रखते सगुण–उपासक हैं जो लोग।
श्रद्धा से जो भजते मुझको, श्रेष्ठ उन्हीं को जानो योग।। 2।।

निराकार, अव्यक्त ब्रह्म का, जिसका नहीं आदि–अवसान।
व्यापक औ कूटस्थ नित्य का करते हैं जो अर्चन–ध्यान।। 3।।

इन्द्रियगण का संयम करके, एक भाव से जो रहते।
सबका हित–साधन जो करते, वो भी मुझको पा लेते।। 4।।

निराकार में चित्त वाले को होता अर्जुन क्लेश विशेष।
गति पाते हैं निराकार की, तनधारी पाकर अति क्लेश।। 5।।

कर्मों को अर्पित कर मुझमें, कर्म सदा जो हैं करते।
प्रेम भाव से भजते मुझको, ध्यान सदा मेरा धरते।। 6।।

जो मुझमें हैं चित्त लगाते करता मैं उनका उद्धार।
सागर–से इस मृत्यु–लोक से, शीघ्र उन्हें मैं करता पार।। 7।।

(क्रमशः)

स्वास्थ्य

योग - आसन

उत्कटासन

विधि

महर्षि घेरण्ड जी ने उत्कटासन की विधि इस प्रकार बताई है।

अंगुष्ठाभ्याधरामवष्टभ्य गुल्फे च खे गतौ।

तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयं मुत्कटासनम्।।

अर्थात् दोनों पैरों के अँगूठों पर सारे शरीर का भार रहे व एड़ियाँ ऊपर को उठी हुई उन एड़ियों पर नितम्ब रख कर बैठें। इसे उत्कटासन कहते हैं।

आजकल प्रचारित विधि – आजकल इस आसन का जो प्रचारित ढंग है उसमें इस

आसन से एक प्रकार की कुर्सी पर बैठने की नकल है। उसमें भी पैरों के अग्रभाग पर (अर्थात पैरों के पंजों पर) सारे शरीर का वजन आ जाय व दो एड़ियाँ ऊपर को उठी हुई हों व दोनों हाथ अर्ध चन्द्राकार विधि से कटि प्रदेश में लगे हुए हों, सामने आकाश की ओर ऊर्ध्व दृष्टि होकर देखता रहे, घुटने व पिण्डलियाँ आगे की ओर झुके हुए न हों इसी को उत्कटासन कहते हैं।

फल

इस आसन के करने से मल विसर्जन ठीक होता है। मलाशय शुद्ध हो जाता है। पिंडलियों को बल देता है। नेत्र दृष्टि के लिए लाभप्रद है। अपान वायु का ऊर्ध्वाकर्षण करता है। इसलिए जल बस्ती करने वाले लोग इसी उत्कटासन के बल से खड़े होकर मलाशय की शुद्धि के लिए नौली ढंग से नले उठा कर जल खींचते हैं। अतः पुरुषोत्तमों के लिए यह आसन परमोत्कृष्ट है।

● ● ●

जब साधक नाम, रूप, देह, मन, बुद्धि आदि से अपने आप को सर्वथा पृथक समझ लेता है, तब वह ईश्वर की शरण और कृपा से देहादि सम्बन्ध से होने वाले समस्त क्लेशों और पापों से सदा के लिए सर्वदा मुक्त हो जाता है एवं विज्ञानानंदघन परमात्मा का सनातन अंश होने के कारण सदा के लिए प्रभु को प्राप्त हो जाता है।

श्री गुरु-कृपा

– ओमप्रकाश गुप्ता – सिरसा (हरि.)

अकारण दयालु प्राणी मात्र के भाग्य विधाता सिद्धों के सिद्ध हमारे और आपके दादा गुरुदेव महाप्रभु श्रीरामलाल जी महाराज तथा योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के चरण कमलों साष्टांग प्रणाम करने के बाद उन्हीं के चरणों में घटित एक घटना को लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। यह घटना श्रीमती शान्ती देवी से संबंधित है। जो मास्टर हुकुमचन्द जी हरियाणा प्रान्त जिला सिरसा में अध्यापन कार्य करते थे उनकी धर्मपरायणा अर्धांगिनी थी। इस दम्पत्ति के तीन पुत्र (सबसे बड़ा पुत्र मदनलाल, मध्यम गिरधारी लाल एवम् सबसे छोटा ओमप्रकाश) सिरसा में ही अपने प्राइवेट कारोबार चला रहे है। पुत्री वीना जीन्द जिले में गुरु चरणों में समर्पित परिवार श्री लाजपतराय जी गुप्ता के सुपुत्र श्री अनिल कुमार जी गुप्ता के साथ सुखमय जीवन व्यतीत कर रही है। मास्टर हुकुमचन्द एवम् शान्ती देवी गुरुचरणों में पूर्णतया समर्पित भाव से सत्संग–कीर्तन में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। श्री गुरुदेव भगवान भी मा. हुकुमचन्द जी को हमेशा यह कहा करते थे कि 'लल्ला तुम तो मेरे हृदय के टुकड़े हो।' सन् 1980 में एक बार ऐसा हुआ कि मई मास की गर्मियों मे खुली छत पर मा. हुकुमचन्द जी को अकस्मात् चक्कर आ गया और छत पर गिर गए गिरते ही शरीर अचेत व प्राणरहित हो गया। जैसे ही शान्ती देवी ने पतिदेव को देखा तो होश उड़ गए। उन्होंने महाप्रभुजी के स्वरूप के सामने आर्त पुकार की कि हे प्रभु ! आज मेरे सुहाग की रक्षा करो। इसके बदले में चाहें जो भी शारीरिक कष्ट दे दो। मैं उमभर चारपाई पर बैठकर रोटी खा लूंगी। यह कहकर उसने श्री सिद्धगुफा की चरणरज उनके मुँह में डाल दी। इसके कुछ मिनटों बाद ही मास्टर जी के प्राण वापिस आ गए। जो छत पर 2–3 घण्टे से मृत पड़े थे। उस घटना के 15–20 दिन बाद ही शान्ती देवी फिसल कर गिरी तथा एक पॉव के घुटने का मांस फट गया। जिसका स्थानीय व विदेशी प्रसिद्ध डॉक्टरों द्वारा इलाज कराने पर भी जीवन पर्यन्त ठीक न हो सका। इस दौरान कई बार गुरुदेव भगवान से कष्ट निवारण हेतु कृपा प्रसाद की प्रार्थना की। परंतु जीवन पर्यन्त भुगतान का संकल्प होने के कारण प्रसाद में कोई न कोई विघ्न पड़ जाता। जैसे या तो कोई दूसरा व्यक्ति बीच में पड़कर प्रसाद कोई और ले जाता या जो समय गुरुदेव निर्धारित करते उसमें 4–5 मिनट देरी हो जाती और प्रसाद अधूरा रह जाता था।

एक बार गुरुदेव भगवान योग प्रचार कार्यक्रम के दौरान सिरसा योग प्रचार कार्यक्रम में पधारे जो मा. हुकुमचंद ही लेते थे। तब शान्ती देवी ने आनंदकन्द श्री सद्गुरुदेव जी महाराज के चरणों में प्रार्थना की। हे करुणानिधान! मैं कई वर्षों से घुटनों का दर्द सहन करती आ रही हूँ, क्या आपको दया नहीं आती? जब भी मैं प्रसाद लेती हूँ तब किसी न किसी बहाने आप मुझे टाल

देते है। इस पर श्रीगुरुदेव भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा, लल्ली प्रभुजी यह कष्ट निवारण कर तो चुटकी भर में देंगे परंतु जो तुमने जीवन पर्यन्त भुगतान का संकल्प किया है। उसे पूरा करने के लिए तुम्हें अगला जन्म लेना पड़ेगा। अब तेरी मर्जी है कि तुझे इस जन्म से भुगतान करना है या दोबारा अगला जन्म लेना है। तब शान्ती देवी ने श्री चरणों में प्रार्थना की हे भगवान! मेरा कष्ट भुगतान इसी जन्म में कर दो व जन्म–मरण का किस्सा खत्म कर दो। गुरुदेव भगवान ने तथास्तु कहके शक्तिपात पूर्ण प्रसाद दे दिया। इस प्रकार शान्ती देवी ने अपने घुटने का दर्द मरते दम तक भुगतान किया तथा जीवन सत्संग, लोककल्याण एवम् ध्यानाभ्यासी सत्संगी बच्चों के दुख निवारण हेतु प्रसाद वितरण करते हुए व्यतीत किया। एक विशेष बात यह है कि शान्ती देवी का सबसे छोटे पुत्र ओमप्रकाश में बहुत प्रेम व स्नेह था। जब कभी प्रभु धाम जाने का समय आया तो वह उसके प्रेम के कारण वो बात ठुकरा देती थीं।

इनके पतिदेव मा. हुकुमचंदजी ने देह त्याग से सप्ताह पहले शान्ती देवी से कहा कि मेरा मन तो तुझे साथ लेकर सिध्दलोक जाने का है परंतु तुम पुत्र मोह वश बीच रास्ते से वापिस आ जाओगी।

यह बताना उचित होगा कि मात्र हुकुमचंद को निद्रा अवस्था मे सन् 1948 में जब वो गौ हत्या आंदोलन के विरोध तथा गौ हत्या के कारण आर.एस.एस. पर प्रतिबंध लगने के कारण जेल भरो आंदोलन में कारावास में थे तब गुरुदेव भगवान ने दर्शन दिए थे।

तदुपरान्त सन् 1964 में चण्डीगढ़ में श्री ओमप्रकाश जी शर्मा के निवास स्थान जब श्री सत्गुरुभगवान का जन्मदिवस मनाया जा रहा था व चामृत अभिषेक किया जा रहा था। तब पहली बार गुरुदेव भगवान के संपर्क में आए। जैसे ही गुरुदेव नमो– गुरुदेव नमो की ध्वनि शुरू हुई और आखें बन्द की तब परमकरुणानिधान अलौकिक शक्तियों के स्वामी जिस शिला पर विराजमान थे उसी स्थान पर सुनहरे रंग में चमचमाते रूप में साक्षात गणेश जी महाराज के दर्शन हुए। ऐसा 3–4 बार हुआ और मास्टर जी नतमस्तक हो गए। तत्पश्चात् गुरुदेव भगवान का प्रातःकालीन प्रवचन व योगसाधन द्वारा रोगनिदान कार्यक्रम शुरू हुआ। उस समय गुरुदेव भगवान ने अपने पाँव के अँगूठे की रज उतारकर मास्टरजी के मस्तक पर लगाई तथा वर्षों पुराना आधे सिर का लाइलाज रोग जिसे चण्डीगढ़ के वरिष्ठ डॉक्टरों ने लाइलाज घोषित कर दिया था, चुटकी भर में ठीक कर दिया जो कभी जीवन में दोबारा नहीं हुआ बल्कि 3 घण्टे ध्यानस्थ बैठे रहे। इस कृपा प्रसाद व दीक्षा के बाद दोनों पति–पत्नी ने अपना संपूर्ण जीवन गुरुचरणों में समर्पित कर, अन्तर्जगत में प्रवेश कर जीवनयोगमय बना लिया। इन्होंने सप्ताह में दो दिन रविवार व गुरुवार को 3–5 सायंकाल अपने निवास स्थान पर सत्संग प्रारंभ कर दिया। जहाँ सत्संगी बच्चों को दिव्य आलौकिक अनुभूतियां होने लगी। गुरुसेवा ही इन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था।

मई 2002 में मा. हुकुमचंद जी ने जब प्रभु चरणों में शरीर छोड़ने का मन बनाया तो

ध्यानभ्यासी बच्ची से कहा प्रभुजी से पूछ कर बताओ कि प्रभुजी ने प्रार्थना स्वीकार कर ली है तब बच्ची ने ध्यान से उठने के बाद कहा मौसाजी आपने ऐसी क्या प्रार्थना की है जो प्रभुजी स्वीकार नहीं कर रहे। तब मास्टरजी ने हँसकर कहा कर लेंगे– कर लेंगे और चुप हो गए। क्या प्रार्थना स्वीकार कर ली यह बात हर 2–3 सत्संग के बाद पूछने का स्वभाव बन गया। लगभग 4 महीने बाद ध्यानाभ्यासी बच्ची ने बताया मौसा जी आपने क्या प्रार्थना की मुझे मालूम नहीं, गुरुदेवजी ने स्वीकार तो कर ली मगर कुछ उदास दिखलाई दे रहे थे। इस पर मास्टरजी बड़े खुश हुए और दैनिक कार्यों, आरती–पूजा, कीर्तन–सत्संग व ध्यानाभ्यास में मस्तीपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। 15 मई श्री परशुराम जयंती के पावन दिन जब मास्टरजी ने श्वास खींचकर अपना देह त्याग किया, तब साथ ही शान्ती देवी का प्राणांत हो गया। क्योंकि इनका छोटे पुत्र ओमप्रकाश में स्नेह अधिक था और उसने छाती से लिपटकर अपनी माताजी को जोर से आवाज लगाई तो शान्ती देवी को ऐसा लगा कि उनका बेटा कुँए की गहराई से आवाज लगा रहा है। तब शान्ती देवी ने उस अवस्था में कहा बेटा रो मत मैं आ रही हूँ एवम् शान्ती देवी के प्राण वापिस लौट आए। जो बात मा. हुकुमचंद ने सप्ताह पहले कही थी वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। एक बात और बतला दूँ कि गुरुदेव भगवान ने अपने जीवन काल में अपने मुखारविन्द से कहा था कि 'लल्ला हुकुमचंद के जीवन का ध्येय है, गुरुआज्ञा न उल्लंघनीय' और यह बात सन् 1989–90 के योग प्रचार कार्यक्रमों की समीक्षा के दौरान श्री गुरुदेव भगवान ने सिद्धयोग पत्रिका में लिखी थी कि सिरसा योगप्रचार कार्यक्रम की विशेष बात यह थी कि वहाँ के संचालक लल्ला हुकुमचंद के जीवन का ध्येय है, गुरुआज्ञा न उल्लंघनीय है। जबकि मा. हुकुमचंद जी को सिद्धलोक गए लगभग 9–10 वर्ष हो चुके हैं वे कई सत्संगी बच्चों को स्थूल रूप से दर्शन, प्रसाद व आशीर्वाद दे चुके हैं। इसके अतिरिक्त ध्यानाभ्यासी बच्चों को मास्टर जी महाप्रभुजी व श्रीगुरुदेव भगवान के चरणों में बैठे दर्शन देते हैं। अस्तु

अब शान्ती देवी प्रसंग पर पुनः ध्यान देते हुए मैं आगे लिखना चाहता हूँ कि लगभग साल डेढ़ साल पहले जब शान्ती देवी शारीरिक रूप से कुछ परेशान थीं तब उसने अपने पतिदेव के स्वरूप के सामने उलाहना भरे शब्दों में कहा कि आप तो प्रभुजी के चरणों में बैठे मुस्कुरा रहे हो, क्या आपको मेरा कष्ट देखकर दया नहीं आती? उसी रात्रि पतिदेव ने दर्शन देकर कहा पगली जब मैं तुझे अपने साथ ला रहा था, तब तू ओमी के प्यार व मोह में बीच रास्ते से वापिस चली गई। अब तू चिंता मत कर जब भी तू आएगी, मेरे साथ वाले खाली आसन पर आकर बैठेगी। इस अवधि के दौरान शान्ती देवी को लेने सिद्धलोकवासी गुरुबहिन विद्या देवी, इनके पतिदेव व बैकुण्ठवासी श्रीहरि विष्णु लेने के लिए आए परंतु पुत्रमोह के कारण शान्ती देवी ने इन सबको यह कहकर मना कर दिया कि ओमी घर पर नहीं है, उसको कहकर ही जाऊंगी तथा वापिस भेज दिया। इस साधना काल में शान्ती देवी ने बहुत से सत्संगी बच्चों का कष्ट प्रभुजी से प्रार्थना करके अपने ऊपर ले लेती थीं तथा वे कष्ट मुक्त हो जाते थे। अंततः 4

दिसम्बर गीता जयन्ती के दिन प्रातः इनके पतिदेव प्रभुजी के दरबार में जहाँ शान्ती देवी हमेशा विश्राम व भजन सत्संग करती थीं, प्रकट हुए और कहा चल हम किसी सत्संगी बच्चे के घर सत्संग करके आते हैं। इस पर शान्ती देवी ने कहा कि मेरे तो घुटनों में दर्द है, मैं वहाँ कैसे जा सकती हूँ, फिर पतिदेव बोले चल फिर हम प्रभुजी के धाम चलते हैं। शान्ती देवी ने पुनः वही बात दोहराई कि ओमी घर पर नहीं है, उसके आने पर उसे कहकर फिर चलूँगी। तब पतिदेव ने समझाया पगली मैं तुझे उस समय ले जाऊंगा जब ओमी घर पर नहीं होगा। यदि ओमी तेरे पास होगा तो तू प्रभुजी के पास नहीं जा पाएगी। ओमी तेरे लिए सबसे बड़ी अड़चन व पाँव की जंजीर है। इस बार शान्ती देवी को बात समझ आ गई तथा वह साथ चलने को तैयार हो गई। फिर कुछ सोचकर बोली आज रविवार का प्रभुजी का सत्संग है, यह तो मुझे कर लेने दो। इसके बाद चलेंगे। पतिदेव ने हाँ कर दी तथा अन्तर्ध्यान हो गए। फिर शान्ती देवी ने अपने पुत्र ओम के सिवाय सुबह से शाम तक सत्संग में आने वाले हर गुरुभाई–बहन व बच्चों को बता दिया कि आज ओमी के बाऊ जी मुझे लेने आए थे। मैं उनके साथ जाऊंगी तथा फिर नहीं मिलूंगी परन्तु इस बात का विशेष ध्यान रखना कि ओमी को इस बात का पता ना चले इसलिए उसके सामने किसी सत्संगी से इस बात का जिक्र नहीं किया। दैनिकचर्या में सुबह का नास्ता, दोपहर का भोजन, 3 से 5 बजे तक सत्संग तथा रात्रि 7:30 बजे सबके साथ बैठकर चाय ली। लगभग 8 बजे ओमप्रकाश के पास किसी मित्र का फोन आया तो उसने कहा माताजी मुझे घण्टाभर बाहर काम है, क्या मैं चला जाऊं? तो माताजी ने कहा हाँ अवश्य जा आ। क्योंकि वह तो ओम के बाहर जाने का इंतजार कर रही थीं। उसके बाहर जाते ही उसने सभी बाकी आने वाले सत्संगी बच्चों को 9 बजे तक प्रसाद व आशीर्वाद दिया। रात्रि 9 बजे पेट साफ करने के लिए शौचालय गईं तथा 9:05 पर अपने पोते अंकुर को आवाज लगाई कि अंकुर मैं चली। जब अंकुर व परिवार के सदस्य दौड़कर पहुंचे तो माताजी कुछ नहीं बोली। उन्होंने उठाकर शान्ती देवी को पलंग पर लिटाया तथा पानी पिलाया। अंकुर की माता ने ओमप्रकाश को फोन किया कि माताजी बोल नहीं रही हैं जल्दी घर आओ। 9 बजकर 11 मिनट पर ओम व उसके मित्र घर पहुँच गये। तब शान्ती देवी पलंग पर आँखें खोले लेटी थी। ओमप्रकाश ने जल पिलाया। परंतु शान्ती देवी ने ओम से बात नहीं की। हाथ की नब्ज देखने पर ओम ने देखा कि नब्ज 3–4 बार धड़की फिर ऊपर चढ़ गई। उसी समय डॉक्टर ने आकर छाती पर पम्पिंग की तथा मृत घोषित कर दिया। इस प्रकार शान्ती देवी 3–4 मिनट में अपनी जीवन यात्रा पूरी करके श्रीप्रभुजी के धाम अपने पति के साथ चली गईं। तत्पश्चात् अगले दिन प्रातः 5 से 6:30 बजे के बीच 4–5 सत्संगी बच्चों को दर्शन देकर कह गईं कि तुम लोग किसी प्रकार का दुःख मत मनाना– मैं तो प्रभुजी के दरबार में बैठी हूँ, जब याद करोगे आ जाऊंगी।

ऐसी दिव्य आत्मा मास्टर हुकुमचंदजी व उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शान्ती देवी को हमारा कोटिशः साष्टांग दण्डवत प्रणाम!!

• • •

योग मार्ग में हमारी मनोदशा
श्रद्धा तथा विश्वास

— द्वारका प्रसाद शर्मा, लखनऊ

मनुष्यमात्र इस संसार चक्र में आकर अपने अपने पूर्वजन्मोपान्त संस्कारों एवं शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप देहादि से युक्त होकर एक विशिष्ट स्वभाव को धारण कर नियत भोग स्थूल शरीर के माध्यम से भोगा करता है। अपने प्रारब्धानुसार सुखमय व दु:खमय दोनों ही प्रकार से भोगों की अनुभूति इस शरीर को हुआ करती है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त इस शरीर के द्वारा सुख व दु:ख की अनुभूतियों का क्रम निरन्तर अबाधगति से चला करता है। जिस किसी भी व्यक्ति विशेष द्वारा इस शरीर को धारण किया गया है वह चाहे चक्रवर्ती सम्राट रहा हो, चाहे वह यति अथवा सन्यासी वेषधारी हो जाय अथवा एक निष्कितन दरिद्र का जीवन यापन कर जाय वह अपने–अपने शरीर धर्मानुसार तथा प्रारब्ध भोगानुसार अवश्यमेव सुखात्मक अथवा दु:खात्मक अनुभूतियों का शिकार होगा ही, इसमें कोई संशय नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी एक निर्विवाद तथ्य है कि हमारे इस भोगायतन शरीर में चैतन्य अंश के रूप में उस परमात्मा तत्व का अंशीभूत 'जीव' विद्यमान रहते हुए इसी शरीर को केन्द्र बनाकर जहां सुख दु:खात्मक अनुभूतियां कराता है, वहीं वह उस सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मतत्व का अंशमात्र जीव भी उनके ही स्वरूप का प्रतिबिम्ब स्वरूप इस मनुष्य मात्र को सुख व आनन्द के अन्वेषण में निरन्तर प्रवृत्त भी करता है। परंतु इसी सुख के इसी आनन्द के खोज की उद्दाम लालसा उसे अपने संचित कर्मानुसार शरीरस्थ मन सहित षडिन्द्रियाँ (छः इन्द्रियां) उसे अपने पाश में आबद्ध कर पुन: अज्ञान की ओर बरबस ढकेल दिया करती हैं। मनुष्य इन्हीं इन्द्रियों और मन के वशीभूत हो आपातरमणीय सुखों में उलझ–उलझ कर रह जाता है। पुनरपि मनुष्य की अन्तर्हित सुख व आनन्द की भावना उसे सर्वदा एकरसात्मक सुख प्राप्ति के प्रति सचेष्ट बनाये रखती है।

हमारे दिव्य दृष्टि सम्पन्न शास्त्रकारों ने इनके पाशबन्धनों से मुक्ति हेतु मनुष्यमात्र के लिए विविध विधान विहित किये हैं परंतु हमारा यह मन जो मात्र संकल्प–विकल्पों का पुतला है, सर्वदा चलायमान रहता है। इसमें स्थिरता लाना परम दुष्कर कार्य है जिसे श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान ने स्वयं स्वीकारा है और उस पर शनै: शनै: नियन्त्रण के उपायों का भी अनुमोदन किया है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृहतते।।

(च. 6–35)

भगवान श्रीकृष्ण स्वमुखारविन्द से अर्जुन की शंका के समाधान में कहते हैं 'हे महाबाहो अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं कि यह मन चंचल है और बड़ी मुश्किल से काबू पाये जाने वाला तत्व है। परंतु फिर भी हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इसका नियन्त्रण अभ्यास के द्वारा तथा वैराग्य के द्वारा किया जाता है।

मनस्तत्व की चंचलता जगत् प्रसिद्ध है। एक क्षण के लिए भी हमारा मन स्थिर नहीं रहता। सोचने की व्यर्थ की विचारों की श्रृंखला इसे हमेशा जकड़े रहती है। कहने को बहुत ही सरल लगता है कि हमने मन को काबू कर रखा है या वश में कर लेंगे परंतु इसमें निरन्तर अभ्यास तथा वैराग्य (राग–द्वेषादि की भावना से मुक्ति पा जाना) अपेक्षित है। मन को जीत लेना तो संसार भर को जीत लेने के समान एक महान् उपलब्धि अपने आप में है। आदि शंकराचार्य श्री ने तभी तो यह उद्घोषित किया 'जितं जगत्तेन मनो हि येन।'

यह अत्यन्त विशद एवं व्यापक विषय है। विवेच्य विषय के अतिरिक्त भी यथा प्रसंग विचार्य विषय बन जाते हैं तथापि यहाँ विचारणीय है योग मार्ग में हमारी मनोदशा। हमारे मनीषी शास्त्रकारों द्वारा मनुष्य मात्र के लिए जिन–जिन श्रेयस पाथेयों का दिग्दर्शन कराया है उनमें पातंजल योगसूत्रों की भूमिका महिमामण्डित है। इसका एक–एक सूत्र परमार्थमय तथा कल्याणमय है। आधुनिक युग में योग को मात्र 'योगा' कहकर हाथ पैर चलाना मात्र ही 'योगाचार्य' की पदवी के लिए पर्याप्त मान लिया जाता है। इस यान्त्रिक (यन्त्र प्रधान) युग में मान्त्रिक वर्चस्व शून्य प्राय हो गया है। कुछेक आसन जानने वाले योग–प्रशिक्षक और योग निष्णात कहे जाते हैं। भगवान पतंजलिदेव का एक ही सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' योगी बनाने के लिए पर्याप्त है यदि उस पर सम्पूर्णता से आचरण हो जाय। परंतु कलियुग के दुष्प्रभाव तथा तज्जन्य दोषों से आधुनिक युग में यह सुवर्णमयी परमार्थमयी स्वर्णाक्षरी अज्ञानविला व धूमिला हो रही है। अर्थ का अनर्थ होता जा रहा है जिसका कारण युग प्रभाव के साथ–साथ शास्त्रवचनों की अवहेलना व अश्रद्धा भी मूल कारणों में है।

यह भी विचारणीय है कि मनुष्य मात्र की मनोवृत्ति अपने प्राक्तन जन्मों के संस्कारानुसार बना करती है। इसी मानसिक वृत्ति को हम मनुष्य के स्वभाव के रूप में बहुधा देखा करते हैं तथा अनुभव करते है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण से स्वयं स्पष्ट रूप से इसे बतलाया है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

(गी. 17/3)

इसका यही भाव है कि समस्त मनुष्य मात्र की 'श्रद्धा' उसके अपने मनोगत संस्कारों के ही अनुरूप हुआ करती है। इस मनुष्य मात्र के अन्दर जीव स्वयं श्रद्धामय है – वह जिस मनुष्य विशेष की जिस किसी प्रकार की श्रद्धा–भावना होती है वह उसी रूप में उसी प्रकार से तत्तदनुरूप हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष व सार ग्रहण होता है कि मनुष्य जिन–जिन अपने

शुभाशुभ कर्मो द्वारा जो – जो मनोवृत्तियां या स्वभाव विशेष का हो जाता है उसकी सोच भी उसके स्वभाव के अनुसार ही तत्तत्कोटि की श्रद्धा को धारण करती है। हम इस बात का भी प्रत्यक्ष अनुभव करते रहते है। एक सन्त महात्मा और एक साधारण साधक में अन्तर उनकी स्वभावगत श्रद्धा के अन्तर अथवा तारतम्य में परिलक्षित होता है। एक सन्त में निश्चित रूप से श्रद्धा की अतिशयता रहेगी और साधारण साधक में श्रद्धा तो दिखेगी पर उसे हम न्यूनता में ही देख पायेंगे। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य अपने–अपने प्रारब्ध कर्मों के संस्कारानुसार ही स्वभावगत न्यूनातिशय मात्रा में श्रद्धावान् व आस्थावान् हुआ करता है।

इस विवेच्य विषय की विशद व्याख्या विस्तार भय से करते हुए यह तो संक्षेपत: सिद्ध हुआ कि प्रत्येक मनुष्य की स्वभावानुरूप श्रद्धा उसके पूर्वजन्म के संस्कारों द्वारा उत्पन्न हुआ करती है। साथ ही यह भी तथ्य उजागर हुआ कि जिसकी जैसी मनोदशा अथवा चिन्तन की वृत्ति होगी उसमें उसी प्रकार के कार्यों के प्रति अभिरुचि व झुकाव दृश्यमान होता है। हम सभी जानते हैं कि परमात्मा की इस त्रिगुणमयी सृष्टि में (सत्व, रजस तथा तमस) किसी व्यक्ति विशेष में सत्व गुण की प्रधानता, किसी में रजोगुण का बाहुल्य तथा अन्यान्य में तमोगुण की प्रचुरता भी विद्यमान हुआ करती है। परमात्मा की इसी अलौकिक एवं विस्मयकारी लीला के फलस्वरूप 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की लोकोक्ति कितनी खरी उतरती है। सन्त महात्मा हमें अपने पुण्य प्रवचनों के द्वारा अनेकानेक बार प्रबोधित व सचेत करते रहते हैं कि भई। यह पथ ही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर व हितकर है परन्तु क्या सभी उस कल्याणमय पथ पर प्रवृत्त होते दृष्टिगत होते हैं, नहीं। इसका अर्थ हुआ कि जो जिसका स्वभाव बना वह उसके अनुरूप ही व्यवहार में प्रवृत्त होता दृष्टिगत होता है। हाँ, पुनरपि इस तथ्य को भी ओझल नहीं किया जा सकता कि उस व्यक्तिविशेष की उस काल विशेष में महात्मा जी के प्रवचनादि में श्रवण की प्रवृत्ति भी उसी के कुछ पूर्व संचित पुण्याशयों के कारण ही रही।

इसी क्रम में भगवद्गीता के एक श्लोक का उद्धरण देना प्रासंगिक प्रतीत होता है। अर्जुन के इस संशय निवारणार्थ कि किसी व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ अथवा सत्कार्य में रत रहते यदि उसका शरीरान्त हो जाता है और वह अपने अभीष्ट लक्ष्य प्राप्ति से विरत हो जाता है तो उसकी क्या स्थिति व गति हुआ करती है। इस प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता के छठवें अध्याय के प्राय: अन्तिम श्लोक बड़ा सटीक चित्रण व समाधान इस सन्देह निवारण में करते हैं।

अयति: श्रद्धयो पे तो योगाच्चलितमानस:।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।

(गी. 6/37)

इस सन्देह पर (अर्जुन के) भगवान श्रीकृष्ण स्वमुखारविन्द से स्वयमेव अर्जुन को समाहित करते हुए लोक कल्याणार्थ निम्न श्लोकों से बतला रहे हैं–

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।। 6/40
प्राप्य पुण्य कृतां लोकान् उषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।। 6/41
अथवा योगिना मेव कुल भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म दीदृशम्।। 6/42

अर्थात् हे अर्जुन! ऐसे व्यक्ति विशेष जो किसी सद्धर्म व सत्कारों में रत रहते हैं उनके कार्यों का विनाश नहीं हुआ करता। ऐसे कल्याणकारी कार्यों में प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों की न ही कोई दुर्गति हुआ करती है। इसके अतिरिक्त भगवान ने ऐसे व्यक्तियों के प्रति स्वयं उद्घोषणा की है कि वे व्यक्ति अपने–अपने पुण्यकार्यों के उच्चावलय स्वरूप पुण्य लोकों में ही बहुकाल पर्यन्त निवास करते हैं। तत्पश्चात् भी पवित्र एवं पुण्यात्माओं के घरों में एक योगभ्रष्ट व्यक्ति की भांति जन्म ग्रहण करते हैं। अथवा ऐसे सद्धर्मी, धीमान् योगियों के कुलों में जन्म लेते हैं। भगवान ने स्वयं इस बात को स्वीकारा है कि ऐसा जन्म यदि होता है तो वह दुर्लभ ही नहीं दुर्लभतर है अथवा अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है।

अब हमारा अन्य विवेच्य विषयान्तर है श्रद्धा व विश्वास। सामान्य जनश्रुति से सभी अवगत हैं – 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत तिन देखी तैसी – इस लोकोक्ति का एक–एक अक्षर यथार्थ व सत्य है। आपका जैसा भाव जिस किसी भी कार्य विशेष के प्रति होता है उतनी ही मात्रा में हम उस कार्य सिद्धि की सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ सकते हैं। किसी कार्य को अनमने भाव से करना और किसी कार्य को दत्तचित्तता और तन्मयता से सम्पन्न करने का फल हम इस दुनियावी स्तर पर नित्यप्रति देखा ही करते हैं। एक ही कक्षा व विद्यालय में पढ़े हुए छात्र भविष्यत जीवन में कोई आई.ए.एस. की सर्वोच्च परीक्षा को भी सरलता व सहजता में प्राप्त करता हुआ सुखी जीवन का भागी हुआ करता है और उसी गुरु द्वारा शिक्षित एक साथ पढ़े लिखे खेले छात्र अपने मनोयोगाभाव वश अपने जीवन में भी आधे–अधूरे होकर रह जाते हैं। यह विश्लेषणात्म बुद्धि से ग्रहण करने पर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि किसी भी कार्य विशेष में सफलता या असफलता में हो सकता है, कुछेक अन्यान्य गौण कारण भी सहभागी हों, परंतु किसी व्यक्ति विशेष की मनोवृत्ति, उस कार्य के प्रति तन्मयता विशेषत: मुख्य कारण हुआ करती है। अब इसी दृष्टान्त की अनुकृति है हमारी अध्यात्मपरक कार्यों में अभिरुचि व तन्मयता, जिसे हम श्रद्धा व विश्वास के रूप में स्वीकार करते हैं। हमारे यहाँ संस्कृत वाङमय में सूत्र है –

'शिवो भूत्वा अथवा देवो भूत्वा शिवं वा देवं यजेत्।' इसका अर्थ है कि यदि हम शिव की अथवा देव विशेष की आराधना या अर्चना में प्रवृत्त होते हैं तो हमें स्वयं 'शिवमय' या 'देवमय' पहले होना होगा। इसका सीधा सा अर्थ यही है कि आपकी पूजा व अर्चना तभी फलवती होगी जब आपमें तद्रुपता व तन्मयता की स्थिति होगी अन्यथा तो वाचरिम्भण या वाग्विडम्बन ही

रहता है।

तात्पर्य यह है कि श्रद्धा व विश्वास के बल पर ही सब कुछ सम्भव है। श्रद्धा की अतिशयता तथा साथ ही विश्वास की परिपक्वता क्या से क्या न कर सकने की सामर्थ्य को उत्पन्न कर सकती है। इसे वे ही जानते हैं जिन्होंने इसकी प्रत्यक्षानुभूति की हो। हमारे योगशास्त्र में भी 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि पूर्वक इतरेषाम्' के सूत्र के साथ साथ तीव्र संवेगानामासन्न: तथा स तु दीर्घ काल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भुमि: आदि सूत्र इस पक्ष की परिपुष्टि व दिग्दर्शन के निदर्शन स्वरूप उपलब्ध हैं ही।

इसके अतिरिक्त श्रद्धा–विश्वास का परिपोषक यह श्लोक कितना न्यारा व प्यारा है।

भवानीशंकरौ वन्दे, श्रद्धा विश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा: स्वान्तस्थमीश्वरम्।।

इसका अर्थ सरल एवं स्पष्ट है। इसका भाव यही है कि मैं पार्वती व परमेश्वर (भगवान्) शिव की वन्दना करता हूँ जो श्रद्धा और विश्वास के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। सिद्धज्ञानी पुरुष बिना श्रद्धा व विश्वास की अतिशय भावना के उन अन्त:स्थ भगवती व भगवान के दर्शन नहीं कर पाते। इसमें भी श्रद्धा और विश्वास की भावना की प्रधानता पर ही बल दिया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रद्धा की महिमा का सर्वत्र बखान हुआ है। श्रीमद्‌भगवदगीता के चौथे अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में भी –

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परं संयतेन्द्रिय:।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात् ज्ञान प्राप्ति का मूल कारण भी श्रद्धा में अभिहित हुआ है।

इस अध्यात्मज्ञान में प्रवेश की सुदृढ़ भित्ति ज्ञान पर ही अवलम्बित है। इसमें संशय के लिये स्थान नहीं है। इसी क्रम में भगवान के वचन एक अन्य श्लोक द्वारा इसी अर्थ के प्रतिपादक हैं।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन:।।

इसके अतिरिक्त यहाँ उल्लेखनीय है कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का 17वाँ अध्याय तो 'श्रद्धात्रय विभाग योगो' नाम से ही अभिहित हुआ है। श्रद्धा की विशेषता में तथा उसकी महत्ता में अनेक श्लोक उपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त श्रद्धा की जितनी अतिशयता होगी उतनी ही वह साधक के लिए वरदायिनी व फलदायिनी होगी। भगवत्मुखारविन्द का एक अन्य श्लोक कितना मर्मस्पर्शी व ग्राह्य है। देखिये –

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:।।

(6/47)

इसका भावार्थ यह है कि जिन योगियों द्वारा भगवान को आत्मसात् कर ह्रदयान्तर्गत धारण किया गया है उन युक्तचित्त योगियों से भी वे अधिक समाहित चित्तवाले भगवान ने स्वीकार किये हैं जो उन्हें श्रद्धापूर्वक सतत् स्मरण व यजन नमन करते हैं।

श्रद्धा के विषय में और एक निष्ठ विश्वास के अनेकानेक उपाख्यान उपलब्ध होते हैं जिनसे उनकी श्रद्धा–विश्वास के द्वारा अद्‌भुत कार्य हुए हैं। भक्तराज प्रह्लाद, भक्त प्रवर नरसी मेहता तथा प्रत्यक्षत: जिनको हमने स्वयं साक्षात् विग्रहरूप में दर्शन का लाभ व सौभाग्य प्राप्त किया है अनन्तश्री विभूषित हमारे परमाराध्य सद्‌गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज। आधुनिक युग में श्रद्धा व विश्वास के वे ज्वलन्त निदर्शन व प्रतिमूर्ति रहे। उनकी एकनिष्ठ अपने गुरुदेव के प्रति अगाध, अविच्छिन्न व अटूट श्रद्धा व विश्वास हम सब के लिए अनुकरणीय उदाहरण नहीं तो क्या है। हम उनकी कृपा प्रसाद के वस्तुत: अधिकारी तभी हो सकते हैं जब उन जैसी सद्‌गुरुदेव के प्रति भक्ति व श्रद्धा हममें से किसी में जागृत हो – पर हम अपात्रता लिये, उनकी कृपाभाजन बनने का सच्चा सुख कहाँ प्राप्त करते हैं। हम चाहते तो उनसे उनकी कृपा का प्रसाद पर उनके द्वारा निर्दिष्ट आदेशों व नियमों की अवहेलना करते हैं। अत: हम अपात्र होते भी उनकी यदि कृपा प्रसाद का यत्किंचित भाग भी प्राप्त कर ले रहे हैं तो यह हमारे सद्‌गुरुदेव की हम पर अहैतुकी कृपा ही है और हमारा परम सौभाग्य भी।

पुनरपि यह तो क्रियात्मक योग है। जिसने जितनी डुबकी लगाई इस सुखसागर में वह उतने ही आनन्द का अधिकारी होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भगवत्कृपा तथा श्री सद्‌गुरुदेव कृपा की निरन्तरता अक्षुण्ण है। कमी है तो बस अपनी जिसे हमें शनै: शनै: स्वयंमेव करना है और इस जन्म में न सही अन्य जन्मान्तर में भी निश्चित रूप से वह सम्प्राप्य होगी, यही हमारी श्रद्धा व विश्वास प्रतिफलित होगा।

भगवद्‌वचन अमोघ है। उनके मुखारविन्द से निस्सृत इस श्लोक के वाचन से पुन: हमारी श्रद्धा व विश्वास की श्रृंखलायें सुदृढ ही होती हैं। वे कहते हैं –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्।।

भगवान् ने उन अनन्योपासकों की 'योगक्षेम' तक के वहन की जिम्मेवारी उठाने की घोषणा कर दी है। कोई करके तो देखे। जरा से कष्ट में हम विचलित हो उठते हैं। खीझ उठते हैं – भगवान् तक को कोसने लगते हैं। बड़ा कठिन है श्रद्धा व विश्वास पर कायम रहना – परंतु योगशास्त्र के तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के वचनों के साथ इस लेख को यहीं विराम दे रहा हूँ।

अभ्यासेनतु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:।

शनैश्शनैरुपरमेत् बुद्धया धृतिगृहीतदा।

श्रीगुरुदेव की कृपा से कदाचित कभी तो यह सम्भाव्य होगा, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

● ● ●

महाप्रभुजी का सारा परिवार है

– राजीव कुमार, अंबिकानगर, उना (हि.प्र.)

योगियों का सन्त समागम है, जमुना तट अलौकिकता सानिध्य दोहराना होगा।
श्री चंद्रमोहन सद्‌गुरुदेव–कृपा से सिद्ध गुफा में श्रद्धालुओं का कल्याण होगा।।

सारा जीवन विश्व योग प्रचार–प्रसार, योगमयी जीवन ही ठिकाना होगा।
श्री प्रभुजी का योग खजाना, तत्‌चित लगा अब स्वयं सिद्ध बरताना होगा।।

नित्यप्रति सच्ची श्रद्धा द्वारा 2 घण्टे जाप, 1 घण्टा ध्यान योग पुनः करवाना होगा।
महाकाल से विजय प्राप्त करने, एक मात्र हल सत्‌चित्‌ सबको अपनाना होगा।।

अपने आराध्यदेव! योगीराज की आज्ञा शिरोधार्य से बेड़ा पार होगा।
विश्व–योग सम्मेलन द्वारा पुनः संदेश प्रसार कराना यथोचित होगा।।

हमारे प्रभुजी! इसी जन्म में ही आवागमन का चक्र छुड़वाना सम्भव होगा।
नहीं तो पता नहीं, चौरासी लाख योनियों में जरा–जन्म भटकाना होगा।।

कल्याण धाम, संथाई धाम से एक ही जयकारी द्वारा गुंजाना होगा।
तेरी रहमत हमारे सिद्ध परिवार पर ! योग–धर्म सबको सिखलाना होगा।।

महाप्रभुजी! जयन्ती पर सिद्धगुफा में आने वालों पर कृपा बरसाना होगा।
राजीव कुमार की सच्ची श्रद्धा–भावना, सबको प्रभुजी का सहारा दिलाना होगा।।

महाप्रभुजी का सारा सिद्ध परिवार सबको उनकी नाम माला जपाना होगा।
साधकों के अन्तर्द्वन्द सहज मिट जाते हैं, अब योग–परिवार बढ़ाना होगा।।

●●●

योगवासिष्ठ: महायोगनी चुडाला प्रकरण

– डॉ. विजय सिंह

गोहाटी से लौटते समय ट्रेन में मुझे वहाँ भ्रमण किये हुए स्थलों में बार–बार महानन्दा के चतुर्दिक प्रबल प्रवाह युक्त ब्रह्म नद, माता कामाख्या की प्राचीन प्रस्तर युक्त विशाल मंदिर एवं श्री वसिष्ठाश्रम की अपूर्व छटा मानस–पटल पर रह–रह कर बेतरतीब रूप से उभरती थी। स्वप्न में भी जल का प्रवाह, उच्च शिखरों वाले वन–सम्पदा से अटे–पटे पर्वत के दृश्य स्पष्ट दीखते थे। मानव–चित्त का स्वभाव है जिसमें रमता है वैसा ही वह जाग्रत व स्वप्न में विलास रूप क्रीड़ा का संचालन करता रहता है।

सन् 1969 के किसी मास में मुझे 'योगवासिष्ठ' ग्रंथ पढ़ने को मिला था। परन्तु उस काल के अध्ययन में मुझे यह ग्रंथ गूढ़, दार्शनिक और बहुत कुछ अबूझ सा प्रतीत हुआ था। श्री सद्गुरु भगवान के मुखारविन्द से निकले उद्‌बोधनों में योगनी चूड़ाला की प्रशंसा कई बार सुना। एक और कथानक स्मरण हो आया है। अमृतसर में आनन्दकन्द श्री महाप्रभु जी उन दिनों विराजमान थे। शाम्भवी (तुर्य अवस्था) में लीन श्री गुलखराज जी अर्धोन्मिलित नेत्रों से उस परावर सत्ता के प्रकाश को देखते हुए पैदल श्री महाप्रभुजी के चरणों के दर्शनार्थ सड़क पर आ रहे थे। एक संस्कारी पंजाबी युवती (विधवा) ने श्री गुलखराज जी को देखा तो उस पवित्रात्मा को आभास हुआ कि स्वयं भगवान शिव ही इस प्रकार गुप्त रूप से सड़क पर गमन कर रहे हैं। वह युवती उनका पीछा करते हुए पंडित वेष में विराजमान श्री महाप्रभुजी के पास पहुँच गयी। श्री गुलखराज जी अपने उसी भाव में श्री महाप्रभुजी के चरणों में प्रेम विह्वलता से लिपट गये। पीछा कर रही युवती भी सामान्य प्रणाम, श्री महाप्रभुजी को करके सतसंग में बैठ गयी।

वहाँ स्त्री, पुरुष, युवक–युवती सभी आसन बद्ध आँख बंद कर ध्यान मग्न, श्री महाप्रभुजी के चरणों में बैठे हुए थे। एक दिव्य चेतना की धारा पूरे वातावरण पर निरन्तर प्रवाहित थी। सहज ही मन सत्वस्थ हो, शांत आनन्द को पाकर अन्तरमुख होता गया। पंजाबी युवती ने देखा और अनुभव किया। एक अन्तराल के बाद सत्संगियों की एकाग्रता धीरे–धीरे भंग होना शुरू हुआ और सभी अब बहिर्मुख हो भजन – गान करने लगे परंतु स्वामी गुलखराज जी उसी प्रेम विह्वलता में प्रणिपात हुए तुर्य भाव में श्री महाप्रभुजी के चरणों में पड़े हुए थे।

समय व्यतीत होता गया भाव–युक्त ईश्वर गान चलता रहा। तभी हिम्मत करके आगन्तुक पंजाबी विधवा युवती ने बड़ी विनम्रता पूर्वक श्री महाप्रभुजी से एक भजन गाने की अनुमति माँगी। श्री महाप्रभुजी ने आज्ञा दी। युवती ने बहुत ही कारुणिक ढंग से आत्म निवेदन अपने भजन में गाया। भजन समाप्त होने पर अचानक श्री गुलखराज जी ने कहा – प्रभो! इस दुखियारी को आप चूड़ाला की सम्पदा प्रदान करने की कृपा करें। श्री महाप्रभुजी गम्भीर होकर

बोले – राजे! यह तुम क्या कह दिया। पात्रता लोटे की उसमें समुद्र का जल भरने को कह रहा है। शम्भवी भाव में युक्त मुलखराज जी ने पुनः प्रार्थना की प्रभो! आप सर्व–समर्थ हैं अपने बच्चो के मुख से निकले बात की लाज रखें। आनन्द कन्द श्री महाप्रभुजी के तीव्र शक्ति–पात से वह देवी तत्काल समाधिस्थ हो गयी और अपने को चतुर्भुजा भगवती दुर्गा के रूप में समाहित पाया। यही देवी द्रौपदी माता जी थी। जिन्होंने साक्षात् बाल गोपाल कृष्ण को बुलाकर भोग लगाया करती थीं। श्री सद्‌गुरु भगवान द्वारा लिखित "आठ योगिनियाँ" नामक पुस्तक में वर्णित यह प्रसंग विस्तार से पठनीय है।

कहने का तात्पर्य यह है कि महारानी चुडाका की कथा योगवासिष्ठ में विस्तार से वर्णित है। पहले उसी योग–मय कथा का सार भाग यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपदेशक श्री वसिष्ठ जी कहते हैं, रघुनन्दन। अतीतकालीन सातवें मनवन्तर के चतुर्थ चतुर्युगी के द्वापर की यह कथा है। जम्बूद्वीप के मालवदेश उज्जयिनी नगरी में शिखिध्वज नामक राजा राज्य करते थे। उनके पिता का अवसान बाल्यकाल में ही हो गया था परंतु धैर्य, क्षमा, शम, दम से पूर्ण धीर गम्भीर शिखिध्वज मन्त्रियों के सहयोग से राज्य का संचालन करते हुए, युवा अवस्था को प्राप्त होने पर अपने बाहुबल, जितेन्द्रियता एवं राजनैतिक पटुता से अपने साम्राज्य का विस्तार करके चक्रवर्ती महाराज बन गये। मन्त्रियों ने उचित आयु राजा का जानकर सौराष्ट्र देश के राजा की कन्या से इनका विवाह कराया। राजा शिखिध्वज की पत्नी का नाम चूडाला था। वैवाहिक जीवन परम सुखी तथा बुद्धिमान चूडाला अपने पति के मुख से सुन–सुनकर समस्त शास्त्रों के तात्पर्य में तथा चित्रकला, संगीत आदि में परिपूर्णता को प्राप्त हो गयी। दोनों परस्पर स्नेह से प्रसन्न और मधुर जीवनयापन करते थे।

ग्राहस्थ जीवन को इस दम्पत्ति ने अनेक वर्ष भोग किया। एक दिन तारुण्य का क्षय होता देख उन दोनों ने विचार किया – यह हमारी काया समय पाकर नष्ट होने वाली है मरण अवश्यम्भावी है। अतः अब वे दोनों अध्यात्म शास्त्र का दीर्घकाल तक स्वाध्याय करने लगे। वे निर्णय पर पहुँचे कि आत्मा का ज्ञान होने से ही संसार रूपी महामारी शान्त होगी। अतः वे विरक्त भाव से एक दूसरे को अध्यात्म ज्ञान का ही प्रेम पूर्वक चर्चा करते समय–यापन करने लगे।

इधर चुडाला सिद्ध महात्माओं से उपदेश प्राप्त कर आत्म–ज्ञान हेतु योग का आलम्बन लेकर समाधि को साधना का विषय बनाया। दीर्घकाल तक के अभ्यास से चुडाला उस निर्विकार परमात्मा के स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर लिया तथा उस अच्युत स्थिति में अपने को पाया जहाँ महान चेतन परमात्मा ही इस संसार में सत्यरूप विराजमान है। अब चुडाला परमात्म साक्षात्कार से सदैव युक्त राग, भय, मोह आदि अज्ञान–विकारों से सदा–सदा के लिये मुक्त होकर निर्विकल्प अवस्था का आनन्द–लाभ करने लगी।

राजा शिखिध्वज ने चूडाला में हुए स्वाभाविक परिवर्तन को देख बोला – प्रिये! तुम्हारी शोभा अपूर्व है। तुम हर समय आनन्द में निमग्न एकांत में चेष्टा रहित बैठी रहती हो। इन दिनों

तुम भोग-लालसा से रहित, गम्भीर और चंचलता रहित दिखाई दे रही हो। क्या कारण है?

चुडाला ने कहा – हे आर्य! मैं इस भवजाल के यथार्थ को योग द्वारा जानकर, मैं परामात्मा में प्रतिष्ठित हो चुकी हूँ। इसलिए मैं परम श्री सम्पन्न दिखती हूँ।

राजा ने चुडाला के कथन का परिहास करते हुए उसे पहले की तरह राजसी भोगों के भोग में बर्ताव करने का उपदेश देने लगा। चुडाला यह देखकर कि राजा अपने स्वरूप का ज्ञान अब तक प्राप्त नहीं कर सका है, यह सोचकर थोड़ा खिन्न मना यह विचार करने लगी कि राजा को भी आत्म-ज्ञान कैसे कराया जाय? यह विचार कर कि राजा को आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का अभी समय नहीं आया है। वह शांत होकर स्वयं निरन्तर योग का अभ्यास करती रहीं। सती-साध्वी चूडाला अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गयी। वह कभी आकाश मार्ग से गमन करती, कभी समुद्र के भीतर द्वीपों में पहुँच जाती थी। इस प्रकार योग बल से चूडाला आकाश गामिनी होकर यत्र-तत्र घूमने-फिरने लगी। लोक पालों, आकाश में स्थित भुवनों, नाग देवता, असुर, विद्याधर, अप्सरा और सिद्धों के साथ सम्भाषण आदि व्यवहार करने वाली हो गयी।

चूडाला स्वयं योगसिद्धा होकर राजा शिखिध्वज को योग का सैद्धान्तिक पक्ष समझाती रही, परंतु राजा को यह सब बात समझ नहीं आता था और न राजा यह ही जान सके कि चूडाला परमयोगेश्वर्यमयी स्थिति को प्राप्त हो चुकी है। चूडाला ने अनाधिकारी समझकर राजा के सामने अपनी सिद्धियों का कभी प्रदर्शन नहीं किया।

अब शिखिध्वज तत्वज्ञानरूप परमपद प्राप्ति के बिना अत्यन्त मोह को प्राप्त हो गया। मन दु:खों से भर उठा। वैराग्य के कारण उसे संसारी सुख का अनुभव नहीं होता था। अत: वह एकांत जंगलों में जाने का विचार करने लगा। एक दिन चूडाला से बोला मैंने बहुत दिनों तक राज्य का उपभोग कर लिया अब मुझे वैराग्य हो गया है और मैं वन जाना चाहता हूँ।

चूडाला बोली बिना समय के ही प्रजापालन रूप कर्म परित्याग कर देने वाले राजा के राज्य का विनाश हो जाता है, जिससे उसे महान पाप का भागी होना पड़ता है। राजा को यह बात अच्छी नहीं लगी वह एक रात्रि जब सभी प्रगाढ़ निद्रा में सोये थे, वह राजमहल से निकल पड़ा और कई दिनों तक चलते-चलते मनुष्यों के लिए अति दुर्गम मंदराचल के तलहटी के भयंकर जंगल में पहुँच गया। वहीं कुटिया निर्माण कर तपयोग्य सामानों को एकत्र कर, निवास करने लगा। जितेन्द्रिय नरेश जप-परायण हो खेद रहित होकर दिन पर दिन व्यतीत करने लगे।

इधर चूडाला ने योगबल से सब बातें जानकर आकाश मण्डल में स्थित होकर राजा को उस भयंकर जंगल में देखा। यह विचार कर कि अभी समय राजा को निर्वाण प्राप्त करने का नहीं आया है। अत: चूडाला पुन: आकाश मार्ग से महल में आकर रहते हुए मंत्रियों के सहयोग से राजकार्य देखती हुई समय व्यतीत करने लगी।

इस प्रकार अट्ठारह वर्ष बीत गया। रानी चुडाला परिपूर्ण योगैश्वर्य सम्पन्न महल में

निवास करती रहीं वहीं राजा शिखिध्वज, आतप, शीत, वर्षा आदि ऋतु परिवर्तन रूप कष्ट को सहन करते हुए वन प्रान्तर में तप लीन रहे।

पति के उद्धार को निमित्त बनाकर अब योगिनी चुडाला आकाश मार्ग से उस नभ मण्डल में जहाँ भूतल पर कुटी बनाकर कृशकाय, जटाजूट मंडित राजा शिखिध्वज तप कर रहे थे पहुँची। यह विचार कर कि यदि मैं चुडाला के रूप में राजा को उपदेश करने जाती हूँ तो हो सकता है कि राजा ज्ञानोपदेश ग्रहण न करें अतः मैं दिव्य मुनिवेष धारण करती हूँ ऐसा संकल्प करते ही रानी युवक–मुनि के रूप में राजा के कुटी में अचानक प्रगट हुई। राजा मुनि को अपूर्व तेज मण्डित अपने सामने उपस्थित देख अभ्यर्थना करते हुए उनको बैठने के लिए निवेदन किया और अपने सम्मुख आसन दिया। आपसी परिचयात्मक बात–चीत के पश्चात् चुडाला जो अपना नाम कुम्भ बताया था बोली – राजन तप–जप करते इतना काल व्यतीत होने पर क्या आप परम शांति रूप अपने स्वरूप का बोध कर लिया है? क्या उस अव्यय, निरजन, ब्रह्मपद बोध से सम्पन्न हो गये हैं?

राजा ने दुःखी मन से कहा – देव! आप सर्वज्ञ मुझे लग रहे हैं और ऐसा लग रहा है कि आप मेरे खेद जनक अवस्था से त्राण देने हेतु ही प्रगट हुए हैं। राज वैभव, परम सुन्दरी पत्नी आदि के सुख का त्याग कर इस गहन वन में मैं सतत् विधानोक्त कर्म करते हुए वर्षों से लगा हुआ हूँ, परंतु मुझे शांति रूप परम पद की प्राप्ति नहीं हुआ है।

कुम्भ (चुडाला) बोले – राजन जो त्यागना था उसका त्याग बिना किये कैसे अपने स्वरूप का ज्ञान सम्भव है। इस शरीर में निरन्तर चित्त की चंचलता ही हमारा बन्धन है। चित्त को ही जगत जाल कहा गया है।

तपस्वी राजा शिखिध्वज ने कहा – हे मुनीराज कृपया हमें चित्त का स्वरूप और उसे परित्याग करने कि विधि बतलाइये।

कुम्भ (चुडाला) – राजन! चित्त रूपी वृक्ष का अहंकार ही बीज है। बीज के नष्ट होने पर वासना रूपी चित्त की शाखाएँ नष्ट हो जाती हैं। गहराई से वैराग्य पूर्वक सोचो 'मैं कौन हूँ।'

कुम्भ के उपदेश एवं शक्ति संयोग से राजा शिखिध्वज ने विशुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थित हो गये। शांत चित्त निर्विकल्प समाधि में दो घड़ी व्यतीत होने पर लीलाभरी वाणी से कुम्भ ने उन्हें समाधि से तत्काल जगाया और कहा – आपको जो समाधि में निर्मल परमात्मतत्व का दर्शन हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी ब्रह्म है। जब जिसे परमात्मा का एक बार स्पष्ट अनुभव हो जाता है तब उसके लिए समस्त अकल्याणकारक पदार्थों का अभाव हो जाता है।

राजा ने कृतज्ञ भाव से कहा – महामुने! आपकी दया से मेरा मोह नष्ट हो गया। मैं ब्रह्म के स्वरूप स्मृत में सारे संदेहों से रहित हूँ। अब मैं शांत हूँ। इतना कहते–कहते वे पुनः समाधिस्थ हो गये। इसी समय कुम्भ (चुडाला) अन्तर्हित हो आकाश में जा पहुँची वहाँ माया रचित कुम्भ की आकृति को छोड़कर चुडाला रूप में अपने नगर महल में अदृश्य रूप से प्रवेश किया। पुनः

सामान्य लोगों की दृष्टि में आकर राज्य संचालन करने लगी। तीन दिन व्यतीत होने पर चुडाला पुन: कुम्भ के रूप में राजा के पास वन में उपस्थित होकर देखा– राजा! उसी स्थान पर निर्विकल्प समाधि में स्थित निश्चल चित्रवत बैठे हुए है।

रानी चुडाला सोचने लगी– बड़े सौभाग्य की बात है जो इन्हें अपने आत्मा में विश्राम प्राप्त हो गया। फलस्वरूप सम, शांत एवं स्वस्थ होकर बैठे हुए है। मैं इन्हें इस समाधि से अवश्य जगाऊंगी, क्योंकि अभी इनका देह त्याग करना उचित नहीं होगा। ऐसा विचार कर चूडाला समाधिस्थ राजा के आगे भीषण सिंहनाद करने लगी। बार–बार सिंहनाद करने पर भी राजा की समाधि भंग नहीं हुआ। चूडाला अपने हाथों से उनको हिलाया, झकझोरा परंतु नहीं जागे।

चुडाला सोचने लगी – राजा तो अपने स्वरूपस्थ स्थिति में परणित हो गये है। अब इन्हें योग युक्ति से जगाऊंगी।

राजा शिखिध्वज का शरीर यद्यपि संज्ञा शून्य एवं चित्त विहीन था परंतु सत्वांश (वासना रहित अन्त:करण शेष था। चूडाला ने अपने कायिक शरीर को छोड़ कर सूक्ष्म से स्वामी के अन्त:करण में प्रवष्टि हो गयी। वहाँ सत्व सम्पन्न अपने स्वामी की चेतना को स्पन्दित कर वह अपने काया में लौट आई। थोड़ी दूर पर बैठकर सामगान गाने लगी। उस सामगान को सुनकर राजा चैतन्यावस्था को प्राप्त हो गये।

शिखिध्वज ने कुम्भ रूपी चुडाला को सामगान गाते दिव्य रूप में देखा – मन ही मन अपने को धन्यभाग मानते हुए बोले – भगवन! मुझे कृत–कृत्य करने वाले आप पुन: पधारे यह मेरा बड़ा भाग्य है। आपकी कृपा से अब मैं वासनाओं से शून्य, मोह और भय रहित, वीतराग, नित्य ज्ञानस्वरूप सर्वत्र समता पूर्ण आकाश मण्डल के समान निर्मल ही एक रूप होकर स्थित हूँ।

राजा शिखिध्वज जाग्रत, स्वप्न, सुशुप्ति हर अवस्था में ब्रह्मभाव भावित होकर परमानन्द, निमग्न पर्वतों के ऊपर कभी उनके अंचलों में निर्भय विचरण करते और काफी समय तक पर्वत के कन्दराओं में निर्विज समाधि में विराजमान होकर काष्ठवत बैठे रहते थे।

कुम्भ (चुडाला) और शिखिध्वज में पूर्व संस्कारों के कारण परस्पर सौहार्द तो था ही। इधर चुडाला (कुम्भ) राजा के स्थिति प्रज्ञता की परीक्षा लेने का विचार कर एक दिन उदास मना राजा के पास बैठी थी। राजा ने उदासी का कारण पूछा। कुम्भ ने दुर्वासा जी द्वारा शाप देने की बात बताई और कहा कि रात्रि में शाप के कारण मैं स्त्री रूप हो जाती हूँ। इसलिए मैं यहाँ चाहकर भी रात्रि में नहीं रुकता हूँ।

शिखिध्वज ने कहा – जगत् में जो कुछ भी दुःख अथवा सुख प्राप्त होते हैं, वे सभी प्रारब्धानुसार शरीर के लिए ही होते हैं। उनमें से किसी बात का आत्मा पर प्रभाव नहीं पड़ता। मुने! आप तो सर्वज्ञ है, अत: यह खेद का विषय आपके लिए है ही नहीं।

कुम्भ रूपी चुडाला और राजा साय होने पर संध्या वन्दन कर पास–पास बैठे अध्यात्म

चर्चा में लगे हुए थे तभी कुम्भी रूपी चुडाला अपने संकल्पनानुसार धीरे–धीरे स्त्री रूप में परिवर्तित हो गयी तथा सलज्ज बोली– राजन! लो मैं स्त्री रूप में शाप के कारण हो गई हूँ। राजा ने कहा मुने! आप तो तत्वज्ञानी हैं अतः आपके अन्तःकरण पर इसका प्रभाव क्यों पड़ने लगा?

कुम्भ रूपी चुडाला मन में संतोष प्राप्त करती हुई बोली! ऐसा ही हो अब दिन में कुम्भ रूप और रात्रि में मदनिका रूप में रहकर प्रारब्ध भोग का समन करती रहूँगी।

आगे चलकर मदनिका (चुडाला) ने शिखिध्वज से विवाह कर रात्रि में स्त्री भाव से पति सेवन और दिन में कुम्भ रूप में मित्र – संग वास करने लगी।

आगे चलकर और कठिन परीक्षा लेने हेतु चुडाला ने मायशक्ति से इन्द्र का प्राकट्य करा कर राजा को स्वर्ग चलने का प्रलोभन दिलवाया परंतु आत्मस्थ राजा ने इन्द्र की प्रार्थना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार लोभ की परीक्षा में राजा को उत्तीर्ण पाया। राजा के क्रोध की परीक्षा हेतु मदनिका (चूडाला) किसी अन्य पुरुष के साथ जार समागम कि स्थिति में अपने को दिखाया। परतु राजा को किंचित भी क्रोध न हुआ। अन्त में राजा को आत्म पद प्रतिष्ठित पाकर अति प्रसन्न मना योगिनी चुडाला अपने असली रूप में प्रकट होकर बोली – राजन! मैं। ही आपको आत्मप्रतिष्ठित करने हेतु कुम्भ: मदनिका आदि रूपों का आश्रय लिया है। अब आप अपने ध्यान द्वारा इन सब इत वृति को जानने हेतु संकल्पित हो समाधिस्थ होइये।

चूडाला के ऐसा कहने पर राजा आसन लगाकर बैठ गये तथा मुहूर्त मात्र में राजा ने ध्यान द्वारा राज्य परित्याग से लेकर चूडाला के साक्षात्कार पर्यन्त सभी घटनाओं को प्रत्यक्षरूप से देख लिया। समाधि भंग होने पर प्रियतमा पत्नी चूडला को देखकर उनके आँखों से प्रेमाश्रु झरने लगे। तदनन्तर राजा ने कहा –तुमने अपने पति के लिए चिरकाल तक कितना दारुण कष्ट उठाया है। मैं भाव सागर में डूब रहा था, तुमने मेरा उससे उद्धार किया है। तुमने नाना प्रकार के युक्तियों एवं घोर प्रयत्न करके मुझे ज्ञान सम्पन्न बनाया है। तुम्हारे इस उपकार का बदला कैसे कर सकूँगा।

पतिव्रते! तुम मेरी गुरु हो, अतः मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम्हारी ही कृपा से मैं भवसागर से पार होकर, अब मैं शांत, आत्मस्थ, सर्वव्यापक आकाश के सदृश निर्मल परमात्मरूप हूँ।

चूडाला बोली – जीवनमुक्त महाबाहो! अब मेरा मत सुनिये और तदनुकूल आचरण कीजिए। हम दोनों की अद्वैत प्रतिष्ठा से अज्ञान नष्ट हो गया। हम इच्छाओं से मुक्त हैं। अतः कर्तव्य रूप राज्य–शासन द्वारा क्रमशः अपनी बची हुई आयु बिताना ही उचित होगा। अब आप अपने नगर में लौट चलिए और राजकाज देखिये।

शिखिध्वज ने कहा – प्रिये! तुमने निर्विकार बुद्धि से जो कहा है वह ठीक ही है। हमें राज्य के ग्रहण अथवा त्याग से क्या प्रयोजन है।

रानी चुडाला ने कहा – तब अब आप अपने इस तेज स्वरूप मुनि रूप का तिरोधान कर इन्द्रादि अष्ट लोकपालों के समान तेजस्वी रूप धारण कर लीजिए। राजा ने अपने सत्यसंकल्पता से वैसा ही रूप धारण कर लिये और अपनी प्रिया चूडाला से कहा – अब तुम अपने सत्य संकल्प से महान वैभव युक्त विशाल सैन्य–दल एकत्र कर लो। पति के आज्ञानुसार योगनी चूडाला ने क्षणभर में हाथी–घोड़ों से भरी–पूरी महान सेना का योगबल से निर्माण कर लिया। एक दिव्य गजराज पर दोनों स्वर्णमण्डित सिंहासन पर विराजमान हुए। साथ अश्वारोही सैनिक, तमाम रथारूढ सुभट साथ हो लिये।

इस्ततः भ्रमण करते हुए राज्यों को अभयदान देते हुए अपने नगर के राजमहल में प्रविष्ट हुए।

● ● ●

आत्म विश्वास अर्थात् स्वयं अपने में विश्वास करना एक कला है जो निरन्तर के अभ्यास से प्राप्त होती है। आत्म विश्वास से परिपूरित व्यक्तित्व स्वयं को दूसरों की दृष्टि में अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत करता है। उठने–बैठने, चाल–ढाल, बोलचाल, मुस्कराने, कार्य–कलाप, चिन्तन–मनन में प्रतिक्षण जागरूक रहने तथा स्वच्छता अपनाने से आत्म विश्वास की उपलब्धि होती है। यही सफल जीवन की कुंजी है।

भक्तियोग

– ऋषि राम शर्मा

(गतांक से आगे)

सम्प्राप्य एनं ऋषियो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।।

(मुण्डक उप. 3/2/5)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ये अस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्यो अमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते।।

(कठ. उप. 2/3/14)

अस्ति इत्येव उपलब्धव्यः तत्वभावेन चोभयोः।
अस्ति इत्येव उपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति।।

(कठ. उप. 2/3/13)

अणोरणीयान् महतोमहियान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुः प्रसादात् महिमानमीशम्।।

(श्वेता. उप. 3/20)

अर्थात् प्रत्येक शरीर में ईश्वर वह शक्ति है जिसको हमारे श्रोत्र सुन नहीं सकते अपितु जिससे श्रोत्र सुनने की शक्ति पाते हैं, जिसका हमारा मन मनन नहीं कर सकता अपितु जिसकी शक्ति पाकर मन मनन करता है, जिसके विषय में हमारी वाणी कुछ भी बोल नहीं सकती अपितु जिसकी शक्ति पाकर वाणी बोलती है, जो हमारे प्राणों का भी प्राण है तथा हमारे चक्षुओं का भी चक्षु। जो हमारी बुद्धि की भी बुद्धि है उसको जानने के लिए इन सबके व्यापारों को रोक कर संकल्परहित निर्मल चित्त में उसके ज्योतिर्मय स्वरूप की अनुभूति की जा सकती है, क्योंकि वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम् तथा महान से भी महानतम् है और प्रत्येक प्राणी की बुद्धिरूपी गुफा में गुप्त है। जब हृदय में आश्रित सभी कामनारूपी संकल्पों का नाश हो जाता है तब शोकरहित बुद्धि उसी ईश्वर की कृपा से उसके निर्विकल्प महिमामय स्वरूप का अनुभव करती है। उसकी सत्ता की अनुभूति उन ऋषियों को होती है जो ज्ञानविज्ञान से तृप्त हैं, जिनका चित्त गुणातीत स्थिति में स्थित है, जो युक्तयोगी होकर आत्मस्वरूप हो चुके हैं, तत्वभाव में स्थित तत्वज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और जिनका विशुद्ध अन्तःकरण ईश्वर की कृपा से ईश्वर के सर्वव्यापी सच्चिदानन्द स्वरूप से प्रकाशित है। जब तक चित्त में मनोवृत्तियों द्वारा रचित दृश्यजगत है तब तक तो चित्तवृत्तियों का ही ज्ञान रहेगा, परमात्मा का स्वरूप और उसकी महिमा का ज्ञान प्रकट

हो ही नहीं सकता। इसका महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट कारण दिया है कि –

चितेः अप्रतिसंक्रमायाः तदाकारापत्तौस्वबुद्धिसंवेदनम्।।

(योगदर्शन)

अर्थात् आत्मा निर्गुण तथा निष्क्रिय है तथापि बुद्धि के साथ तदाकारता के कारण बुद्धिसम्वेदना से प्रभावित रहती है।

● ● ●

अपनाओ मुझको शरण आ रहा हूँ।

– द्वारका प्रसाद शर्मा, लखनऊ

प्रभो! आपके नाम के ही सहारे,
ये जीवन बिताता चला जा रहा हूँ।
मुझे आपके नाम-बल पर भरोसा,
निबल भी बली मैं बना जा रहा हूँ।।1।।

निराशा-निशा अन्धकारों घिरा मैं,
उजाला इसी नाम से पा रहा हूँ।
सगे बन्धु-बान्धव पिता और माता,
संसार-व्यवहार लखता रहा हूँ।।2।।

सभी मोह-माया के सारे पसारे,
मिला सार तब नाम जपता रहा हूँ।
न जाने न कितने अजाने बजाने,
दिलों को दुखाता सताता रहा हूँ।।3।।

कृपा आपकी जिस समय भी हुई है,
तभी नाम में मन लगा पा रहा हूँ।
निरानन्द-मतिमन्द कृपा आपकी पा,
सदानन्द-आनन्दमय पा रहा हूँ।।4।।

सभी वेदशास्त्रों पुराणादिकों में,
तुम्हारा यशोगान सुनता रहा हूँ।
सभी हैं तुम्हीं से पतित एक मैं भी,
अपनाओ मुझको शरण आ रहा हूँ।।5।।

● ● ●

काल चक्र भेदन

— किशनचन्द अग्रवाल पटवारी येहाना, फतेहाबाद (हरि.)

मैं कोई लेखक तो नहीं हूँ। मेरे मन में यकायक इच्छा हुई कि मैं यह लेख लिखकर सिद्धयोग में छपने हेतु भेजूं। अतः टी.वी. पर प्रसारित व प्रदर्शित यह कहानी मैं लिख कर भेज रहा हूँ और आशा करता हूँ कि पाठक गण त्रुटियों की ओर ध्यान न देंगे।

एक समय जब देवताओं ने कामदेव को शिवजी की समाधि भंग करने के लिए भेजा था उस समय कामदेव ने अपनी माया फैलाई तो शिव भगवान ने उसे भस्म कर दिया। उधर कामदेव की पत्नी रति शिवजी के सन्मुख जा कर विलाप करती है कि भगवन् मेरा क्या कसूर है। मुझे विधवा क्यों किया गया है। अतः शिवजी ने कहा कि यह अब भस्म तो हो गया है। फिर द्वापर में यह श्री कृष्ण के घर प्रद्युमन के रूप में जन्म लेगा तब तुम अपने पति से मिल सकोगी।

अब श्रीकृष्ण ने राक्षसों को समाप्त करना ही था अब अपराधियों का नाश व धर्म की रक्षा करनी थी। श्री कृष्ण का समरासुर के साथ युद्ध हो रहा था उसमें समरासुर का पुत्र मायासुर मारा गया। प्रद्युमन जनम ले चुका था। समरासुर ने ठान ली कि मैं अपने पुत्र मायासुर की मौत का बदला प्रद्युमन को मार कर लूंगा। उसने कई असुर भेजे प्रद्युमन को उठा लाने के लिए। परन्तु कोई प्रद्युमन को उठा कर लाने में सफल नहीं हुआ। अन्त में स्वयं समरासुर अपनी मायावी विद्या से सत्यभामा का भेष बना कर रूक्मणी के महल में जाता है और वह प्रद्युमन को पालने में से उठा लेता है। भला रूक्मणी सत्यभामा को कैसे रोक सकती थी उसने समझा यह तो प्रद्युमन को लाड़ प्यार करने वास्ते ले जा रही है उधर श्री कृष्ण जी सारा माजरा देख रहे थे। उन्हें पता था कि प्रद्युमन ने किस प्रकार असुरों को समाप्त करना है। समरासुर ने अपना असल रूप महल बाहर आकर बदल लिया व प्रद्युमन को समुद्र में फेंक दिया। रूकमणी को जब पता चला तो विलाप करती है कि मेरा पुत्र मारा गया। श्री कृष्ण ने उन्हें समझाया कि तुम्हारा पुत्र मरा नहीं है और प्रद्युमन को एक बड़ी मछली के पेट में खेलता हुआ दिखलाया। तब जा कर रूक्मणी शान्त हुई। समरासुर खुश हुआ कि मैंने प्रद्युमन को मार दिया है। उधर देव लोक की अप्सरा पदमनी ने विष्णु भगवान को अपनी भक्ति से प्रशन्न करके मायावी विद्या व रसायन विद्या प्राप्त कर ली थी और आदेश मिला था कि इन विद्याओं का प्रयोग जन कल्याण के लिए करोगी। परन्तु पदमनी ने मायावी विद्या से अपने आपको दूसरे वेष में बदल कर देखा और सफल हो गई व बड़ी प्रशन्न हुई। फिर उसने रसायन विद्या का प्रयोग मुन्नी सदानन्द के दो नन्हे पुत्रों को बड़ा (जवान) करके किया व प्रशन्न हुई कि मुझे दोनों विद्यायें भली प्रकार आ गई है। क्योंकि उसने इन विद्यालयों का प्रयोग जन कल्याण वास्ते नहीं किया है अतः उसे शाप मिला कि तू राक्षसी हो व तुझे पुत्र ना हो। वह राक्षस कुल में पैदा होती है और भामासुर के साथ शादी होती है जिसका नाम भानुमती है और समरासुर के महल में भामासुर व भानुमती नौकरी करते हैं। एक दिन

मछली पकड़ने वालों ने समुद्र से वह बड़ी मछली पकड़ ली और उन्होंने सोचा कि मछली बहुत बड़ी है। अगर हम राजा को भेंट कर देंगे तो बहुत सारा इनाम मिलेगा वे राजा के पास ले गये व इनाम प्राप्त किया। भानुमती का कोई बच्चा नहीं था वह मन्दिर में विष्णु भगवान से प्रार्थना कर रही थी कि कोई बच्चा मुझे दे दो। समरासुर ने मामासुर व भानुमती को अच्छे रसोईये बता कर मछली पकाने वास्ते बुलाया। राजा का आदेश पाकर उन्हें अवकाश पर होते हुए भी दरबार में जाना पड़ा। मछली को दोनों मियां बीबी काटने लगे परन्तु भानुमती ने काटने से इन्कार कर दिया व मामासुर ने मछली को काटा तो उसके पेट से प्रद्युमन निकला व भानामती गोद में उठा कर बड़ी प्रशन्न हुई कि भगवान ने मेरी प्रार्थना सुन ली है व मुझे पुत्र दे दिया है। मामासुर कहता है यह हमारा पुत्र नहीं है इसे तुमने जन्म नहीं दिया है। वे पुत्र को राज दरबार में ले जाते हैं और समरासुर व रानी मायावती से आशीर्वाद दिलवाते हैं। और सुरेश्वर समरासुर ने बच्चे का नाम प्रद्युमन रख दिया ताकि इसका नाम लेते समय हमारे दुश्मन की याद आती रहे कि हमने उसे समुद्र में फेंक दिया था वह मर गया है। उधर समरासुर के गुरु ने अपनी शक्ति से पता कर लिया है कि यह तो कृष्ण पुत्र प्रद्युमन है और असुरों का नाश करेगा। राजा को बड़ा फिक्र होता है कि यह क्या हो गया और मामासुर भी अपनी पत्नी भानुमति के रोकने के बावजूद भी राजा को बताना चाहता है कि यह हमारा पुत्र नहीं है यह तो मछली के पेट से मिला था परन्तु जब भी राजा को बतलाने की कोशिश करता था वह नहीं बतला सका व गूंगा हो गया व अपाहिज हो गया।

अब असुर गुरु भी यज्ञ आदि कर के प्रद्युमन को मारना चाहता है और समरासुर ने भी विकटासुर आदि को भेज कर प्रद्युमन को मरवाने की कोशिश की। रुकमणी को फिक्र होता है कि वह तो बच्चा है इतने बड़े राक्षसों का कैसे मुकाबला करेगा। श्री कृष्ण ने रुकमणी को बतलाया कि उसकी माता भानुमती को मायावी विद्या व रसायन विद्या का प्रयोग करना आता है वह प्रद्युमन को रसायन विद्या से बड़ा कर लेगी। विष्णु भगवान ने भानुमती को याद कराया कि तू रसायन विद्या जानती है इसे बड़ा कर ले ताकि असुरों का मुकाबला कर सके। भानुमती ने अपना आसन लगा कर रसायन विद्या द्वारा काल चक्र को रोकने की कोशिश की परन्तु सफल नहीं हो रही है। भानुमति को यक्ष गंधर्व व नाग देवताओं के दर्शन होते हैं व आदेश देते हैं कि हमारा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है तुम सात नदियों गंगा–यमुना–कावेरी आदि का जल लाओ व उसका प्रयोग करो। तीनों देवता आशीर्वाद देकर चले जाते हैं फिर भानुमती श्री कृष्ण से इस बारे में प्रार्थना करती है , तब श्री कृष्ण ने सातों नदियों को आदेश दिया और वे जल लेकर उपस्थित हो गई। ज्यों ही सातों नदियों का जल प्रद्युमन पर डलता है और भानुमति अपनी रसायन विद्या का प्रयोग करती है तब ही शीघ्र प्रयोग सफल होता है और काल चक्र रुक जाता है और प्रद्युमन शीघ्र ही बड़ा (युवा) हो जाता है। ऐसे हुआ कालचक्र भेदन। (टी.वी. चैनल स्टार उत्सव द्वारा प्रदर्शित)

जय गुरुदेव!

ज्ञानी के लिए प्रारब्ध नहीं रह जाता

हे महामते! निरन्तर प्रयत्न करके आत्मा के स्वरूप को जानकर उसी के चिन्तन में अपना समय व्यतीत करो; समस्त प्रारब्ध कर्मों के भोगों को भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिए। आत्मज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता। परन्तु जब तत्त्वज्ञान का उदय होता है, तब ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध कर्म का उसी प्रकार अभाव हो जाता है, जिस प्रकार स्वप्नलोक के देहादिक असत् होने के कारण जागने पर नहीं रह जाते। जन्मान्तर के किये हुए जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं। परंतु ज्ञानी के लिए तो जन्मान्तर भी नहीं है। अत: उसके लिए कभी भी प्रारब्ध नहीं रहता। जिस प्राकर स्वप्नकालीन देह देह नहीं होती, अध्यासमात्र होती है, उसी प्रकार यह जाग्रत्–काल का शरीर भी अध्यासमात्र है। अध्यस्त पदार्थ की उत्पत्ति कहाँ होती है। और जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई, उसकी स्थिति कहाँ! (जैसे रज्जु में सर्प का अध्यास होने पर रज्जु में सर्प नहीं पैदा होता और न वहाँ सर्प की स्थिति ही होती है।) इस प्रपंच का उपादान कारण आत्मा है, जिस प्रकार मिट्टी के पात्रों का उपादान कारण मिट्टी है। वेदान्त के अनुसार यह प्रपंच अज्ञान के कारण आत्मा में भासता है; यदि अज्ञान नष्ट हो जाय तो विश्व की विश्वता कहाँ रहेगी। जिस प्रकार भ्रम से मनुष्य रज्जुबुद्धि का त्याग करके उसे सर्पबुद्धि से ग्रहण करता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष सत्य (आत्मा) का ज्ञान न होने के कारण प्रपंच को देखता है।

जब सामने रस्सी के टुकड़े को अच्छी तरह पहचान लेने पर जैसे उसमें प्रतीत होने वाला सर्परूप नहीं रह जाता, उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप आत्मा का ज्ञान होने पर जब प्रपंच भी शून्यता को प्राप्त हो जाता है, तब देह भी प्रपंच रूप ही होने के कारण उसके साथ ही शून्यता में परिणत हो जाता है। उस अवस्था में प्रारब्ध की स्थिति कहाँ रह सकती है। अज्ञानीजनों को समझाने के लिए प्रारब्ध की बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही प्रारब्ध के नष्ट हो जाने पर प्रणव और ब्रह्म की एकता के चिन्तन से नादरूप में साक्षात् ज्योतिर्मय, शिवस्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है–ठीक वैसे ही, जिस प्रकार मेघ के दूर हो जाने पर सूर्यनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। योगी सिद्धासन से बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के भीतर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) को सदा सुनता रहे। इस प्रकार अभ्यास में लाया हुआ नाद बाह्य ध्वनियों का आवृत कर लेता है। इस प्रकार एक पक्ष अर्थात् अकार को जीतकर दूसरे पक्ष उकार को जीते और क्रमश: सम्पूर्ण प्रणव पर विजय प्राप्त कर तुर्यपद अर्थात् आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होता है।।1–11।।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/2012-14 JUNE 2012

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुञ्चति किं यमः।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

अरे मूर्ख (मनुष्य)! क्या तुम मृत्यु से डर रहे हो? डरे हुए को क्या मृत्यु छोड़ देती है? ऐसा समझ रहे हो तो यह तुम्हारी मूर्खता है। मृत्यु तो सबको काल का ग्रास बना देती है। वह तो जो जन्म ही नहीं लेता, उसी को नहीं पकड़ती है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो, जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े।

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) रामलाल शर्मा